श्री सद्गुरु देवाय नमः

श्री परम हंस अद्वैत मत का

मासिक

आनन्द संदेश

श्री आनन्दपुर

आनन्द मणि

अप्रैल १९८५

श्रीसद्गुरुदेवाय नमः

श्री परमहंस अद्वैत मत के मासिक

आनन्द सन्देश

का

वार्षिक विशेषाङ्क
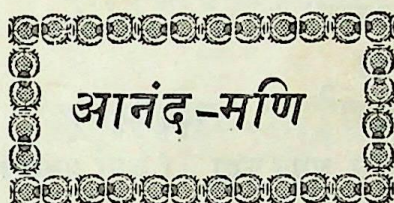
अधिपति

श्री परमहंस अद्वैत मत पब्लिकेशन सोसायटी

श्री आनन्दपुर

सम्पादकः—महात्मा सुख सागरानन्द

अप्रैल १६८५

वार्षिक शुल्क देश के लिये	१८—००
वार्षिक शुल्क विदेश के लिये समुद्री डाक द्वारा	४८—००

Forgign Subscription Rates (By Air Mail)

Asia—	102—00
U. K. & Europe—	132—00
U. S. A. & CANADA—	156—00

विशेषाङ्क एक प्रति ३—००

विषय-तालिका

आनन्द-सन्देश * * * अप्रैल १६८५

अनुक्रमणिका * * * पृष्ठ संख्या

श्रीसद्गुरुदेवाय नमः

श्री परमहंस अद्वैत मत के मासिक

आनन्द सन्देश

का

वार्षिक विशेषाङ्क

आनन्द-मणि

श्री आनन्दपुर

अप्रैल सन् १९८५ ई० सौर वैशाख सं० २०४२ वि०

वर्ष ३३] [अंक ४

अथ

श्री गुरु-वन्दना

॥ दोहा ॥

श्री परमहंस गुरुदेव जी, सब विधि पूरणकाम ।
श्री युगल चरणार में, मम दण्डवत् प्रणाम ॥

श्रद्धापूर्ण पदपद्म में, वन्दना बारहिंबार ।
जिन चरणन की सेव से, जीव होयँ भवपार ॥

हृदय सिंहासन पर करूँ, चरणकमल आसीन ।
पूजा अर्चन कर रहूँ, सदा ध्यान लवलीन ॥

परम हितु हैं जगत के, सतगुरु दीनदयाल ।
भक्ति रत्न धन बख़्श कर, करते मालामाल ॥

कृपा दया के पुँज हैं, श्री सतगुरु भगवान ।
भक्ति मुक्ति के हैं धनी, सुख शान्ति की खान ॥

श्री सतगुरु के चरण हैं, भवसागर के पोत ।
इन चरणन की ओट गह, सब विधि मंगल होत ॥

ताते निसदिन कीजिये, चरणकमल का ध्यान ।
श्री चरणन के ध्यान से, निश्चय हो कल्यान ॥

चरण रेणु पावन अति, सब सुख देवनहार ।
श्रद्धा से मस्तक धरै, मिटे हृदय अंधकार ॥

महिमा सतगुरुदेव की, किस विधि वरणी जाय ।
विधि हरि हर सुर नर मुनि, अन्त न कोऊ पाय ॥

हितकारी तिहुँ लोक में, सतगुरु सम कोउ नाहिं ।
निर्भय कीन्हा काल से, रख चरणन की छाहिं ॥

गहै जो सतगुरु की शरण, श्रद्धा भक्ति धार ।
सो सौभागी जीव है, जीवन लिया संवार ॥

सगुण रूप धर आये हैं, परम पुरुष भगवन्त ।
बंधन काटें जीव के, करें शोक का अन्त ॥

जाके मन विश्वास है, ताके सब दुख दूर ।
बाल न बांका कर सके, ताका काल क्रूर ॥

डूब रहे हैं जीव सब, भवनिधि गहर गम्भीर ।
सतगुरु की अनुकम्पा बिन, कोउ न लागै तीर ॥

सकल जगत है जल रहा, कामादिक की आग ।
सोई बचे जाके हृदय, गुरु चरणन अनुराग ॥

जप तप संयम साधना, करे तीर्थ व्रत दान ।
बिन सतगुरु होवै नहीं, कबहूँ आत्मज्ञान ॥

आत्मज्ञान बिन न मिले, आवागमन से मुक्ति ।
ताते सतगुरु शरण गह, कीजै सेवा भक्ति ॥

सब साधन में सुगम है, श्री सतगुरु की सेव ।
सेवा से सहजे मिले, भक्ति मुक्ति का मेव ॥

पूरे गुरु की शरण बिन, मिटे न भव-भय-त्रास ।
चरण शरण जबही गहे, सुख में करे निवास ॥

श्रद्धा से सतगुरु वचन, श्रवण करे जन जोय ।
मन की सब दुविधा मिटे, तन मन शीतल होय ॥

सब सुख तुम्हरी शरण में, सतगुरु पूरणकाम ।
तुम बिन और न जगत में, साचे सुख का ठाम ॥

ताते मैं भी आया, सब की आशा त्याग ।
तुच्छ सेवक को दीजिये, निज चरणन अनुराग ॥

बुरा भला खोटा खरा, हूँ सब विधि तुम्हार ।
तुम बिन और न दूसरा, मेरा ओट आधार ॥

ज्यों चात्रिक के हिय बसे, स्वाँति सलिल की प्रीत ।
तैसे ही तव चरण में, रहे 'दास' का चीत ॥

इति शुभम्

शुभ सूचना

१. बैसाखी (बैसाख सं० २०४२ वि० की संक्रान्ति) १३ अप्रैल सन् १९८५ ई० शनिवार को होगी ।

२. ज्येष्ठ सं० २०४२ वि० की संक्रान्ति १४ मई सन् १९८५ ई० मंगलवार को होगी ।

अपनी बात

अप्रैल १६८५ का यह अंक विशेषांक के रूप में अपनी परम्परागत विशेषताओं के साथ प्रेमी पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। श्री परमहंस सद्गुरुदेव दाता दयाल जी की असीम अनुकम्पा एवं शुभाशीर्वाद से ही हम ऐसी अनुपम कृति प्रेमी पाठकों को दे पाने में समर्थ हो सके हैं। इस कृपा के लिये जहां हम श्री सद्गुरु देव दाता दयाल जी के अत्यन्त आभारी हैं और उनके श्री परम पवित्र चरणारविन्दों में कोटिशः धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं, वहां आनन्द-सन्देश के प्रिय पाठकों को धन्यवाद देना भी अपना कर्त्तव्य समझते हैं, क्योंकि भक्ति-परमार्थ के जिन उच्च एवं पवित्रतम विचारों को जन-जन तक पहुँचाने में यह पत्रिका संलग्न है, उस पावन कार्य में सहयोग प्रदान करने के साथ-साथ प्रेमी पाठकों ने इसके प्रचार एवं प्रसार में भी पूर्ण योगदान दिया है, जिसके फलस्वरूप आनन्द-सन्देश निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर है और इसके पाठकों में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

आनन्द-सन्देश के इस विशेषांक का नाम 'आनन्द-मणि' रखा गया है। वैसे तो आनन्द-सन्देश गत तैंतीस वर्षों से सुख, आनन्द एवं खुशी की मणियां लुटाता आ रहा है और भक्ति-परमार्थ के जिज्ञासु उन मणियों से झोलियां भरते ही रहे है, परन्तु इस विशेषांक को तो श्री सद्गुरुदेव दाता दयाल जी ने विशेष कृपा करके 'आनन्द-मणि' का नाम दिया है।

आनन्द का अर्थ है—खुशी, हर्ष, आह्लाद अथवा सुखानुभूति और मणि कहते हैं—रत्न, जवाहर अथवा माणिक्य को। इस प्रकार आनन्द-मणि का अर्थ हुआ—आनन्द, सुख और खुशी प्रदान करने वाला रत्न अथवा जवाहर। ऐसा शाश्वत सुख, आनन्द और खुशी प्रदान करने वाली मणि, जिसके बाद किसी प्रकार का दुःख अथवा शोक शेष न रहे।

जहां तक संसार में पाये जाने वाले हीरे, रत्न, जवाहर तथा मणि-माणिक्य आदि का सम्बन्ध है, तो वे चाहे लाखों-करोड़ों क्यों न एकत्र कर लिये जायें, उनसे शाश्वत सुख एवं स्थायी आनन्द की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। उनसे तो उलटा दुःख और अशान्ति ही बढ़ती है, क्योंकि उनकी प्राप्ति के साथ-साथ मनुष्य के अन्दर तृष्णा की ज्वाला भी बढ़ती जाती है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी विचार करने योग्य है कि सांसारिक मणि-माणिक्य आदि जबकि अनित्य, नाशवान् एवं अस्थायी हैं, फिर उनसे नित्य एवं शाश्वत सुख-आनन्द की प्राप्ति क्योंकर हो सकती है? नित्य सुख, शाश्वत आनन्द और स्थायी खुशी तो वही पदार्थ दे सकता है, जो स्वयं नित्य, शाश्वत एवं स्थायी हो।

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि संसार में प्राप्त होने वाले मणि-माणिक्य अथवा रत्न-जवाहर आदि मनुष्य को शाश्वत आनन्द एवं खुशी कदापि नहीं दे सकते। शाश्वत सुख—आनन्द प्रदान करने वाली मणि कोई और ही है। वह मणि कौनसी है? वह है—नाम-भक्ति रूपी मणि, जो नित्य है, शाश्वत है,

स्थायी है। नाम-भक्ति रूपी मणि ही नित्य सुख एवं शाश्वत आनन्द प्रदान कर सकती है।

रतन जवेहर माणिका अंमृतु हरि का नाउ ॥
सूख सहज आनंद रस जन नानक हरि गुण गाउ ॥

गुरुबाणी, सिरी रागु म० ५

सत्पुरुष फ़रमाते हैं कि परमात्मा का अमृतरूप नाम ही सच्ची मणि, रत्न एवं जवाहर है। परमात्मा के नाम का गुण-गान ही सुख और सहज आनन्द का प्रदाता है।

जिन मनुष्यों को सौभाग्य से महापुरुषों की निकटता प्राप्त हो जाती है और उनकी शरण-संगति के प्रताप से जिनके विवेक चक्षु खुल जाते हैं, ऐसे सच्चे पारखू गुरुमुख एवं भक्तजन ही इस बात की परख रखते हैं कि नित्य सुख एवं शाश्वत आनन्द प्रदान करने वाली सच्ची मणि वस्तुतः प्रभु का नाम तथा उसकी भक्ति है। संसार के मणि-माणिक्य तो असत्, मिथ्या एवं नश्वर हैं, उनसे सच्ची एवं स्थायी खुशी कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। इस प्रकार का विवेक-विचार जिन गुरुमुखों-भक्तों को हो जाता है, उनकी दृष्टि में संसार के मणि-माणिक्य पूर्णतया महत्त्वहीन हो जाते हैं।

इस विषय में भक्त हनुमान् जी का प्रमाण तो विश्व-विख्यात है। उनकी दृष्टि में संसार के असत् मणि-माणिक्य कंकड़-पत्थर से अधिक महत्त्व नहीं रखते थे।

जब भगवान् श्रीरामचन्द्र जी महाराज का राज्याभिषेक हुआ,

उस समय विभीषण जी ने एक अत्यन्त मूल्यवान् रत्नमाला श्री सीता जी को भेंट की। उस समय का प्रसंग है:—

॥ चौपाई ॥

उठयो विभीषण तब सुख पाई। रत्नमाल कर लई उठाई ॥
दीन्हि जलधि रावण को जोई। पुनः विभीषण पाई सोई ॥
सोई रत्नमाल सुखकारी। दीनि जानकी के गल डारी ॥
जासु ज्योति असि भई विशाला। सन्मुख लख न सकत महिपाला॥
राजसमूह अधिक तहँ सोहा। तेहि बिलोकि सबकर मन मोहा ॥
तेहि छण जनकसुता महारानी। चितइ रामतन कछु मुसकानी ॥
कह्यो कृपालु प्रिया सुन लीजै। जो इच्छा जेहि को सो दीजै ॥
सुनत वचन तब जनक दुलारी। सोई गले से माल उतारी ॥
काहि देउँ यह हृदय विचारी। मारुतसुत की ओर निहारी ॥

॥ दोहा ॥

कृपादृष्टि लखि पवनसुत, हरषि दंडवत कीन्ह ।
रत्नमाल सो जानकी, डारि गले में दीन्ह ॥

॥ चौपाई ॥

महावीर मन माहिं विचारी। है कोउ गुण माला में भारी ॥
परमानन्द प्रेम रस पागै। मणिन सकल अवलोकन लागै ॥
बिनु प्रकाश कछु और न तामें। मन लागै भक्तन को जामें ॥
मणि भीतर कछु हुइहै सारा। मुक्ता एक तोरि तब डारा ॥
ताके मध्य विलोकन लागे। देखि लोग सब अचरज पागे ॥
पुनि दूजो तोरयो हनुमाना। देखि निस्सार तज्यो बलवाना ॥

इहि विधि तोरत क्रम क्रम मोती। पीर अधिक दर्शकगण होती ॥
कहन लगे निज निज मन माहीं। जो कोऊ अधिकारी नाहीं ॥
ताको ऐसी वस्तु न दीजै। नाहिं त यही दशा लख लीजै ॥

॥ दोहा ॥

बोलि उठ्यो कोउ नृपति यह, काह करत हनुमान।
क्यों तोरत हो माल तुम, सुन्दर रतन सुजान ॥

॥ चौपाई ॥

वचन सुनत कह मारुति बानी। देखहुँ राम नाम सुखखानी ॥
नाम न या महँ परत लखाई। ताते तोरत डारत भाई ॥
कह कोउ सकल वस्तु के माहीं। रामनाम कहुँ सुनियत नाहीं ॥
कह मारुति न नाम जेहि माहीं। सो तौ काहु काम की नाहीं ॥

अर्थः—"भगवान् श्रीरामचन्द्र जी महाराज श्री सीताजी सहित राज्य-सिंहासन पर विराजमान् हैं, यह देखकर तथा सुख पाकर विभीषण जी अति मूल्यवान् रत्नमाला हाथ में लेकर अपने स्थान से उठे। यह रत्नमाला वही थी, जो समुद्र ने रावण को दी थी और उसकी मृत्यु के बाद लंका का राजा बनने पर भक्त विभीषण जी को प्राप्त हुई थी। विभीषण जी ने नेत्रों को सुख प्रदान करने वाली अर्थात् सुन्दर लगने वाली वह माला श्री जानकी जी के गले में डाल दी। उसकी ज्योति इतनी अधिक थी कि कोई राजा सम्मुख दृष्टि करके उसे नहीं देख सकता था। वहां जो राजसमूह सुशोभित था, सबका मन उस माला को देखकर मोहित हो गया। उसी समय सीता जी श्री रामचन्द्र जी महाराज की ओर देखकर तनिक मुस्कराईं। तब श्री रघुनाथ जी बोले—हे प्रिया

सुनिये ! जो कुछ जिसे देने की इच्छा हो, सो दीजिये।

"श्री प्रभु के ये वचन सुनकर जानकी जी ने वह रत्नमाला गले से उतारी और मन ही मन यह विचार करने लगीं कि इसे किसे दिया जाये ? विचार कर उन्होंने पवनसुत भक्त हनुमान् जी की ओर निहारा। सीता जी की अपने ऊपर कृपादृष्टि देखकर हनुमान् जी ने हर्षित होकर दण्डवत्-प्रणाम किया। जानकी जी ने वह रत्नमाला उनके गले में डाल दी। हनुमान जी ने मन में विचार किया कि माला में अवश्य ही कोई विशेष गुण है, तभी तो सीता जी ने कृपा करके मुझे प्रदान की है। यह सोचकर परम आनन्द और प्रेमरस में सराबोर हो गये और मणियों को ध्यानपूर्वक देखने लगे। किन्तु प्रकाश के अतिरिक्त उसमें और कुछ भी न था, जिसमें भक्तों का मन लगे। तब हनुमान् जी ने यह सोचकर कि शायद इसके भीतर कुछ सार हो, एक मोती तोड़ा और उसके अन्दर देखने लगे। उन्हें ऐसा करते देखकर लोग अत्यन्त विस्मित हुये। फिर बलवान् महावीर जी ने दूसरा मोती तोड़ा और उसे भी सारहीन समझकर फेंक दिया। इस प्रकार वे क्रम-क्रम से मोती तोड़ने लगे। यह देखकर दर्शकों के हृदय व्यथित होने लगे और वे अपने-अपने मन में कहने लगे कि जो कोई अधिकारी न हो, उसको ऐसी मूल्यवान् वस्तु देना उचित नहीं, अन्यथा उसकी यही दशा देखनी होगी। तब कोई राजा बोल उठा—हे हनुमान् जी ! यह आप क्या कर रहे हैं ? बुद्धिमान् होकर भी यह सुन्दर रत्नमाला क्यों तोड़ते हैं ?"

"यह सुनकर हनुमान् जी बोले कि मैं इसमें सुख की खान

प्रभु के नाम को देखने का यत्न कर रहा हूँ, परन्तु हे भाई! मुझे तो इसमें प्रभु का नाम कहीं दिखाई नहीं पड़ता, इसीलिए तोड़ता और फेंकता हूँ। फिर दूसरा कहने लगा कि प्रत्येक वस्तु में प्रभु का नाम हो, ऐसा तो हमने कहीं सुना नहीं। तब हनुमान् जी ने उत्तर दिया कि जिसमें प्रभु का नाम नहीं, वह वस्तु किसी काम की नहीं।"

ऐसे होते हैं गुरुमुखों एवं भक्तों के विचार। हनुमान् जी ने कितने स्पष्ट शब्दों में अपना दृष्टिकोण दर्शा दिया कि जिस पदार्थ में प्रभु का नाम नहीं, वह किसी काम का नहीं। अभिप्राय यह कि उनकी दृष्टि में प्रभु का नाम तथा उनकी भक्ति ही सार और सत् वस्तु थी।

इसी प्रकार ही भक्त रविदास जी भी नाम-भक्ति की सच्ची मणियों से मालामाल थे। यही कारण था कि सांसारिक हीरे-रत्न आदि, जो कि आम संसारी मायासक्त मनुष्यों की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्व रखते हैं और जिनकी प्राप्ति के यत्न में वे पापाचरण से भी नहीं घबराते, भक्त रविदास जी उनकी ओर दृष्टि उठाकर भी न देखते थे।

एक बार एक सेठ उनके पास गया और उनके चरणों में विनय की—भक्त जी! मेरे मन में बहुत दिनों से तीर्थाटन करने की अभिलाषा थी। कल नगर के कुछ लोग तीर्थ-यात्रा पर जा रहे हैं। मेरा विचार उनके साथ ही जाने का है। मेरे पास कुछ हीरे हैं, जोकि अत्यन्त मूल्यवान् हैं। इन्हें मैं घर पर रखना नहीं चाहता, परन्तु इन्हें साथ ले जाना भी खतरे से खाली नहीं। अतएव

मेरी प्रार्थना है कि आप कुछ दिनों के लिये इन्हें अपने पास रख लें, वापस आकर मैं आपसे ले लूंगा।

भक्त रविदास जी ने उत्तर दिया—सेठ जी ! हमारा निवास स्थान तो यह टूटी-फूटी झोंपड़ी है, जिसमें द्वार भी नहीं है। इसमें भला हीरे रखने का सुरक्षित स्थान कहां है ? इसलिये उचित यही है कि आप अपने मकान में ही किसी सुरक्षित स्थान पर इन्हें रख जायें।

सेठ ने पुनः विनय की—भक्त जी ! मैंने पहले भी आप से निवेदन किया है कि मैं इन्हें अपने घर में नहीं रखना चाहता, इसलिये आप कृपा करके इन्हें अपने पास रख लें।

भक्त रविदास जी हीरे रखने को तैयार न थे और सेठ बार-बार आग्रह कर रहा था। जब भक्त जी ने देखा कि सेठ अपने हठ पर अड़ा हुआ है, वह टलने का नाम ही नहीं लेता, तो उन्होंने पीछा छुड़ाने के लिये कह दिया—हम तो इन हीरों को हाथ भी नहीं लगायेंगे। यदि आपने रखने ही हैं, तो जहां आप का मन चाहे झोंपड़ी में रख दें, परन्तु हमारी कोई ज़िम्मेवारी नहीं होगी।

सेठ झोंपड़ी के अन्दर गया और हीरों की थैली झोंपड़ी की छत में एक स्थान पर छिपा दी। तत्पश्चात् भक्त जी को उस स्थान के विषय में बतलाकर घर चला गया।

काफी दिनों के उपरांत तीर्थयात्रा से वापस आकर उसने भक्त जी से अपने हीरे वापस मांगे। भक्त रविदास जी ने

पूछा—कौनसे हीरे ?

जब सेठ ने उन्हें समस्त वृत्तांत सुनाया, तब भक्त जी ने उत्तर दिया—हमें तो कुछ याद नहीं। आपने जहां थैली रखी थी, वहीं देख लें।

सेठ ने अन्दर जाकर देखा, तो थैली उसी स्थान पर वैसी की वैसी रखी थी। धन के प्रति भक्त जी की ऐसी उदासीनता देखकर वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसी समय उनका शिष्य हो गया और नाम-भक्ति की सच्ची मणि प्राप्त कर वास्तविक अर्थों में धनवान् बन गया।

कमाल जी परमसन्त श्री कबीर साहिब जी के गुरुमुख शिष्य थे। एक बार वे बीकानेर गये। वहां का राजा सत्संगी और साधु-सेवी था। उसने आपकी बड़ी आवभगत की। राजमहल में कई दिन तक सत्संग की अमृतधारा प्रवाहित होती रही। राजा ने आपके सत्संग से प्रभावित होकर मणि-माणिक्य से भरा थाल आपको भेंट किया। कमाल जी ने कहा—हम इनका क्या करेंगे ? ये हमारे किस काम के ?

राजा ने बहुत अनुनय-विनय की, परन्तु कमाल जी वे मणि-माणिक्य स्वीकार करने को तैयार न हुये। जब उनका प्रस्थान करने का दिन आया, तो रात को सोते समय राजा ने एक अत्यन्त मूल्यवान् मणि कमाल जी की पगड़ी में बांध दी।

कमाल जी भ्रमण करते हुये बनारस पहुँचे और गुरुदेव के चरणों में उपस्थित होकर दण्डवत्-वन्दना की। आदेश पाकर

जब वे उठने लगे, तो श्री कबीर साहिब जी की दृष्टि उनकी पगड़ी में पड़ी गांठ पर जा पड़ी। उन्होंने उस गांठ को खोला, तो उसमें से वही मूल्यवान् मणि निकली, जो राजा ने सोते समय कमाल जी की पगड़ी में बांध दी थी। श्री कबीर साहिब जी के पूछने पर कमाल ने उस मणि के विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। बाद में जब श्री कबीर साहिब जी को सम्पूर्ण वृत्तांत ज्ञात हुआ, तो वे कमाल जी के विचारों पर अत्यन्त प्रसन्न हुये।

कहने का तात्पर्य यह कि जिन्हें भक्ति की सच्ची, अमूल्य एवं अति दुर्लभ मणि प्राप्त हो जाती है, संसार के मणि-माणिक्य उनकी दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वहीन एवं तुच्छ हो जाते हैं।

गुरुमुख एवं भक्तजन, जिन्हें महापुरुषों की शरण-संगति के प्रताप से विवेक-विचार की आंख मिल जाती है, सदैव भक्ति की सच्ची एवं शाश्वत मणि प्राप्त करने के लिये ही प्रयत्नशील रहते हैं। भक्तिरूपी मणि दुःख, अशान्ति और चिंताओं का अन्त कर नित्य सुख एवं शाश्वत आनन्द प्रदान करने वाली है। काकभुशुण्डि जी गरुड़ जी के प्रति कथन करते हैं कि:—

॥ चौपाई ॥

राम भगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥

श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड

अर्थः—श्री प्रभु की भक्तिरूपी मणि जिसके हृदय में बस जाती है, उसे स्वप्न में भी लेशमात्र दुःख-कष्ट नहीं होता। संसार में

वे मनुष्य विचारवानों में शिरोमणि हैं, जो इस भक्तिरूपी मणि की प्राप्ति के लिये भलीभांति यत्न करते हैं।

किन्तु सब सुखों को देने वाली यह भक्तिरूपी मणि उसी को प्राप्त होती है, जो श्रद्धाभाव से इसकी प्राप्ति के लिये यत्न करता है। काकभुशुण्डि जी कथन करते हैं कि:--

॥ चौपाई ॥

भाव सहित खोजइ जो प्रानी ।
पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥

श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड

अर्थः—जो प्राणी प्रेम एवं श्रद्धाभाव से खोज करता अर्थात् प्राप्ति का यत्न करता है, सब सुखों की खान इस भक्तिरूपी मणि को वही प्राप्त करता है।

इसलिये महापुरुषों की शरण-संगति ग्रहण कर प्रेम एवं श्रद्धा-युक्त हृदय से इस भक्तिरूपी मणि की प्राप्ति का यत्न करना है। प्रेम एवं श्रद्धा से जब सन्त महापुरुष प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे सेवक को भक्तिरूपी मणि प्रदान करते हैं, जिसको पाकर सेवक शिष्य का जीवन सुख और आनन्द से भरपूर हो जाता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र जी महाराज लछमण जी के प्रति फ़रमाते हैं कि:—

॥ चौपाई ॥

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला ॥

श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड

अर्थः—हे तात ! भक्ति अनुपम (उपमारहित) सुख की मूल है, परन्तु प्राप्त तभी होती है, जब सन्त सत्पुरुष अनुकूल (अर्थात् प्रसन्न) हो जाते हैं ।

अतएव सन्त महापुरुषों को प्रेम, श्रद्धा और सेवा से प्रसन्न कर भक्तिरूपी मणि को प्राप्त करना है और अपना जीवन सुखमय एवं आनन्दमय बनाना है ।

श्री परमहंस सद्गुरुदेव दाता दयाल जी सबका कल्याण करें ।

सम्पादक

अभिलाषा

ज़र कोई १बे-इंतहा चाहता है ।
सामान २ला-इंतहा चाहता है ॥
ऊंचा कोई मर्तबा चाहता है ।
कोई तुझसे क्या कोई क्या चाहता है ॥
मगर तुझसे मैं यह सनम चाहता हूँ ।
फ़कत तेरी ३नज़रे-करम चाहता हूँ ॥

नहीं चाहिये मुझको दुनिया की दौलत ।
नहीं चाहिये मुझको ४सामाने-इशरत ॥
नहीं चाहिये मुझको शान और शौकत ।
नहीं चाहिये मुझको राज और हकूमत ॥
मुझे सतगुरु बस तेरा प्यार चाहिये ।
हरदम प्रभु तेरा दीदार चाहिये ॥

तमन्ना है दिल में बनूँ 'दास' तेरा ।
हर इक जन्म में मैं रहूँ तेरा चेरा ॥
मुहब्बत का तेरी हो दिल में बसेरा ।
न कोई ताअल्लुक हो दुनिया से मेरा ॥
सदा तेरे दर पे आता रहूँ मैं ।
५दिलो-जां से सेवा कमाता रहूँ मैं ॥

१-अनन्त २-अनन्त ३-कृपादृष्टि ४-भोगैश्वर्य ५-तन-प्राण से

श्री परमहंस अमृत कथा

॥ दोहा ॥

श्री परमहंस अवतार जी, वन्दना दोउ कर जोरि ।
श्रद्धा से चरणार में, दण्डवत् लाख करोरि ॥

पूजै जो चरणारविन्द, सहित पूर्ण अनुराग ।
चित्त ताका हरदम रहै, गुरु चरणन सूँ लाग ॥

नाम निरंतर जपत जो, जग-माया विसराय ।
भक्ति मणि हिय में बसे, गुरु प्रसन्नता पाय ॥

महिमा साचे नाम की, मो सूँ बरणी न जाय ।
चित्त दे जो सुमिरण करे, सोई परम पद पाय ॥

'दास' पे गुरु किरपा करी, नाम किया बख़्शीश ।
निसदिन गुरु चरणार में, झुका रहे मम शीश ॥

परम वन्दनीय, सेवक मनरंजन श्री परमहंस अवतार जी श्री श्री १०८ श्री स्वामी वैराग्यानन्द जी महाराज श्री तृतीय पादशाही जी के परम पुनीत श्री सुकोमल चरणारविन्दों में दासानुदास का श्रद्धा एवं निष्ठासहित बार-बार दण्डवत्-प्रणाम है। आप जीवों के कल्याणार्थ ही इस धराधाम पर अवतरित हुये और स्थान-स्थान पर भ्रमण कर अपने कल्याणकारी सदुपदेशों द्वारा जन-जन को प्रमाद की निद्रा से जगाकर उन्हें सत्पथ दरशाया, जीवन के वास्तविक उद्देश्य से उन्हें अवगत कराया

तथा नाम-भक्ति की सच्ची, नित्य एवं शाश्वत मणि प्रदान कर उन्हें सुख, आनन्द और खुशी से मालामाल किया। आपने श्री रामायण के इन वचनों को पूर्णतया सत्य सिद्ध कर दिया किः—

॥ चौपाई ॥

मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू ॥

बालकाण्ड

अर्थः—सन्तों का समाज आनन्द प्रदान करने वाला और कल्याणकारी है तथा जगत् में चलता-फिरता तीर्थराज है।

सन्तों महापुरुषों के व्यक्तित्व में यह विशेषता होती है कि वे जहां भी चरण डालते हैं, वहीं सुख, आनन्द और खुशियां बिखेर देते हैं, जैसा कि कथन हैः—

गामे वा यदि वारञ्ञे निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थारहन्तो विहरन्ति तं भूमिं रमणेय्यकम् ॥

धम्मपद ७/९

अर्थः—चाहे ग्राम हो, चाहे वन हो, चाहे जलमय अथवा सूखा स्थल हो, वही स्थान आनन्दमय एवं सुखकारी है, जहां सन्त सत्पुरुष निवास करते हैं।

इस सन्त समाज रूपी तीर्थराज के प्रभाव का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी कथन करते हैं किः—

॥ चौपाई ॥

सबहि सुलभ सब दिन सब देसा।
सेवत सादर समन कलेसा ॥

अकथ अलौकिक तीरथ राऊ ।
देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥

॥ दोहा ॥

सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग ।
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु समाज प्रयाग ॥

॥ चौपाई ॥

मज्जन फल पेखिअ ततकाला । काक होहिं पिक बकउ मराला ॥
सुनि आचरज करै जनि कोई । सतसंगति महिमा नहिं गोई ॥
बालमीक नारद घटजोनी । निज निज मुखनि कही निज होनी ॥
जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥
मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहि जतन जहां जेहि पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई । रामकृपा बिनु सुलभ न सोई ॥
सतसंगत मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परस कुधात सुहाई ॥

श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड

अर्थः—"संतसमाज रूपी तीर्थराज सब देशों में सब समय सभी को सहज में ही प्राप्त हो जाता है और आदरपूर्वक सेवन करने से क्लेशों का नाश कर देता है। यह तीर्थराज अलौकिक एवं अवर्णनीय है और तत्काल फल देने वाला है, इसका प्रभाव सबके सम्मुख प्रत्यक्ष है।"

"जो मनुष्य इस सन्तसमाज रूपी तीर्थराज का माहात्म्य

प्रसन्न मन से श्रवण करते और समझते हैं और फिर अत्यन्त प्रेमपूर्वक इसमें गोते लगाते हैं अर्थात् सन्तों सत्पुरुषों के सदुपदेशों को हृदयंगम कर उन पर पूरी तरह आचरण करते हैं, वे इस शरीर के रहते ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—चारों फल पा जाते हैं।"

"इस तीर्थराज में स्नान का फल तत्काल देखने में आता है। वह यह कि कौए कोयल बन जाते हैं और बगुले हंस। यह सुनकर कोई आश्चर्य न करे, क्योंकि सत्संग की महिमा किसी से छिपी हुई नहीं है। वाल्मीकि जी, नारद जी तथा अगस्त्य जी ने अपने-अपने मुख से अपना जीवन-वृत्तांत वर्णन करते हुये सत्संग की महिमा गाई है।"

"जल में रहने वाले, ज़मीन पर चलने वाले तथा आकाश में विचरने वाले नाना प्रकार के जड़ अथवा चेतन—जितने जीव इस संसार में हैं, उनमें से जिसने जिस समय जहाँ कहीं भी जिस किसी यत्न से बुद्धि, कीर्ति, सद्गति, विभूति (ऐश्वर्य) तथा भलाई की प्राप्ति की है, सो सब सत्संग का ही प्रभाव समझना चाहिये। वेदों में और लोक में इनकी प्राप्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है।"

"सत्संग के बिना विवेक नहीं होता और श्री प्रभु की अनुकम्पा के बिना सहज ही सत्संग की प्राप्ति नहीं होती। सत्संगति आनन्द और कल्याण की मूल है। सत्संग की प्राप्ति फल है, जबकि दूसरे सब साधन फूल हैं।"

"सत्संगति पाकर दुष्ट भी उसी प्रकार सुधर जाते हैं, जैसे पारस के स्पर्श से लोहा सुहावना हो जाता है अर्थात् सुन्दर एवं मूल्यवान् सोने में परिवर्तित हो जाता है।"

श्री सद्‌गुरुदेव दातादयाल जी श्री तृतीय पादशाही महाराज जी ने भी स्थान-स्थान पर भ्रमण कर अपनी पावन संगति से अनेकों जीवों का सुधार किया तथा उन्हें सत्पथ पर लगाया। इसी सिलसिले में आपने १४ मई सन् १९३९ ई० को हकल ज़िला जम्मू में कृपा की और कुछ दिन वहाँ पर विराजमान् रह कर अपने अमृतमय हितोपदेशों से अनेकों जीवों का कल्याण किया। तत्पश्चात् श्रीनगर की ओर प्रस्थान किया। आप कार में विराजमान् थे जबकि श्री दरबार के कुछ महात्माजन तथा भक्तजन बस में बैठे हुये थे जोकि कार के पीछे-पीछे चल रही थी। जम्मू से लगभग तीस किलोमीटर की दूरी पर अकस्मात् कार का ऐक्सिल (Axle) टूट गया। आप कार से उतर कर बस में विराजमान् हो गये तथा कटड़ा तक बस में ही गये। कार ठीक होने के लिये जम्मू भेज दी गई।

महापुरुषों की किस कार्यवाही में क्या भेद छिपा होता है, यह तो वे ही जानें। शायद इसी बहाने आपने कटड़ा में अनेकों जीवों का कल्याण करना था। कार का ऐक्सिल ठीक होने में तीन दिन लग गये। आप कटड़ा में ही विराजमान् रहकर सत्संग-उपदेश की अमृतधारा प्रवाहित करने लगे। वैष्णोदेवी जाने वाले यात्री कटड़ा होकर ही आगे जाते हैं। उस समय काफी यात्री कटड़ा पहुँचे हुये थे। आपकी देदीप्यमान् मनोहारी

छवि को निहार कर वे सभी मन्त्रमुग्ध हो गये। आपके कल्याण-कारी श्री वचन श्रवण कर वे सभी अपने भाग्यों की सराहना करते हुये कहने लगे कि सन्त महापुरुष जीवों को सन्मार्ग पर लगाने के लिये ही इस धराधाम पर अवतरित होते हैं, यह बात शत प्रतिशत सत्य है। आपने भी हमें आज भक्ति-परमार्थ का सही पथ दरशाया है और जीवन के वास्तविक लक्ष्य का दिग्दर्शन कराया है। इस प्रकार आपके सत्संग से प्रभावित हो कर अनेकों यात्री आपसे नाम की दीक्षा लेकर आपके शिष्य बन गये।

तीन दिन के उपरांत जब जम्मू से कार ठीक होकर आ गई, तो आपने कटड़ा से प्रस्थान किया और मार्ग में बटोत तथा कुद नामक स्थानों पर एक एक रात ठहर कर वैरीनाग झील पहुँचे। यह वही झील है जहां से जेहलम नदी निकलती है। यहां के मनोरम प्राकृतिक दृश्य महात्माजनों तथा भक्तों को दिखाते हुये आप अनन्तनाग पहुँचे। वहां दो दिन सत्संग प्रवाह चलता रहा। इसी मध्य एक बार दिन के समय आपने पहलगाम में कृपा की। अनन्तनाग में भी कुछ संस्कारी आत्माओं ने आपसे नामोपदेश लिया।

दो दिन के बाद आपने श्रीनगर कृपा की। वहां काश्मीर के महाराजा हरिसिंह जी के बादामी बाग में बंगले बने हुये थे। आवास के लिये प्रबन्ध करने हेतु महात्मा सत विचारानन्द जी तथा महात्मा योग प्रकाशानन्द जी महाराजा हरिसिंह जी से मिलने के लिये गये, परन्तु वे कहीं बाहर गये हुये थे, अतएव इन लोगों की भेंट उनके सचिव महोदय से हुई। वे साधु-सेवी

तथा भक्तिमान् पुरुष थे, अतः उन्होंने दोनों महात्माओं का बड़ा आदर-सत्कार किया। उनके द्वारा यह जानकर कि नगर में एक पूर्ण महापुरुष पधारे हुए हैं, सचिव महोदय महात्मा सत् विचार आनन्द जी तथा महात्मा योग प्रकाशानन्द जी के साथ आपके श्री दर्शन करने के लिए आए और श्री दर्शन कर कृतकृत्य हो गए। उन्होंने तुरन्त एक बंगले में ऊपर चौबारे पर श्री सद्गुरुदेव महाराज जी के लिये तथा नीचे के भाग में महात्माओं एवं भक्तों के निवास का प्रबन्ध कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने राज्य की ओर से भोजनादि की व्यवस्था कर तीन—चार ब्राह्मण भोजन बनाने के लिये भेज दिये।

आप जितने दिन श्रीनगर में विराजमान् रहे, रात को नित्य-प्रति श्री अमृतमय प्रवचनों से सब संगत को कृतार्थ करते रहे। सचिव महोदय भी अन्य उच्चाधिकारियों के साथ वहां आते और आपके श्री दर्शन कर तथा श्री प्रवचन श्रवण कर जीवन कृतार्थ करते। उनमें से अनेकों ने आपसे नामोपदेश भी लिया।

श्रीनगर के अनेकों ब्राह्मण, जो आपके अत्यधिक श्रद्धालु बन गये थे, गृह पवित्र करने के लिये आपके श्री चरणों में विनय करते, परन्तु आप सदा यही उत्तर देते कि आप लोग यहीं आकर अपनी श्रद्धाभावना पूरी कर लिया करें।

एक दिन एक ब्राह्मण परिवार ने जब अत्यधिक आग्रह किया, तो आपने उनकी विनय स्वीकार कर उनके घर कृपा की। उन्होंने बड़ी श्रद्धाभावना तथा प्रेम से भोजन बनाया, जिसमें मीठे तेल का प्रयोग किया गया था। आपने स्वयं भी भोग लगाया तथा

महात्माओं और भक्तों को भी भोजन करने के लिए फ़रमाया। भोजन करवाते समय ब्राह्मण-परिवार के सदस्य इतने अधिक प्रेम-विभोर हो गये कि तेल को गर्म करके सब्ज़ियों में डालने लगे। सबने बड़े प्रेम से भोजन पाया। भोजन में सबको ऐसा आनन्द आया जिसका वर्णन कर सकना कठिन है। इस प्रकार लगभग तीन घंटे उनके घर कृपा कर आप वापस बंगले पर लौट आये।

नित्यप्रति की तरह जब वह ब्राह्मण-परिवार रात्रि समय श्री दर्शन करने तथा सत्संग श्रवण करने वहां आया, तो किसी भक्त ने उनसे पूछा--यहां घी क्या भाव मिलता है? आप लोगों ने तो आज सब सब्ज़ियों को घी से खूब तर कर दिया था।

उन्होंने उत्तर दिया—हमारे यहां घी नहीं, अपितु तेल प्रयुक्त होता है। यहां सभी लोग तेल का ही प्रयोग करते हैं। हमने भी सभी व्यंजन तेल से ही बनाये थे और ऊपर से भी तेल ही डाला था।

यह सुनकर सभी अत्यन्त विस्मित हुए, क्योंकि भोजन अत्यधिक स्वादिष्ट था और सब यही समझ रहे थे कि सभी व्यंजन शुद्ध घी से बनाये गये हैं, तेल का तो किसी को पता तक न चला। जब इस विषय में भक्तों ने श्री सद्गुरुदेव महाराज जी के श्री चरणों में विनय की, तो आपने फ़रमाया—उत्कट प्रेम और श्रद्धा की विशेषता ही यही है। आज यदि तेल के स्थान पर पानी भी डाला जाता, तो भी विदित न होता।

ये वचन फ़रमा कर आप उनके प्रेम की मुक्तकंठ से प्रशंसा

करने लगे। इस प्रकार आपने यह दरसा दिया कि सत्पुरुषों को केवल हार्दिक श्रद्धाभावना और प्रेम ही प्रिय है और वे इसी से ही रीझते हैं।

श्री सद्गुरुदेव महाराज जी जितने दिन श्रीनगर में विराजमान् रहे, सचिव महोदय प्रतिदिन श्री चरणों में उपस्थित होते रहे। वे श्री चरणों में विनय कर आपको तथा साथ गये महात्माओं एवं भक्तों को श्रीनगर के प्रसिद्ध स्थान जैसे चश्मा शाही, निशातबाग, शालीमार गार्डन, हार्वन लेक तथा डल झील आदि दिखाने ले गये और प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेने के साथ-साथ श्री दर्शन तथा श्री पावन वचनों का भी लाभ प्राप्त करते रहे।

एक बार श्री सद्गुरुदेव महाराज जी पीर पंचाल नामक पर्वत देखने के लिये गये। यद्यपि ग्रीष्म ऋतु थी, फिर भी कई पहाड़ बर्फ से ढके हुये थे, जिनसे पानी पिघल-पिघल कर तथा छोटी-छोटी धाराओं का रूप धारण कर बह रहा था। आप ने वहां विराजमान् होकर श्री वचन फ़रमाये—"देखो! पहाड़ों पर पानी का क्या रूप है और नदियों में कैसा होगा? यह भी विचार करो कि यह पानी कहां से आता है और फिर कहां जाता है? यह बर्फ पानी का ही एक रूप है। जब यह बर्फ पिघलकर और पानी का रूप धारण कर छोटी-छोटी धाराओं में बहती है, तब इन धाराओं का पानी कितना स्वच्छ और निर्मल होता है। ये छोटी-छोटी धारायें ही इकट्ठी होकर धीरे-धीरे नदी का रूप धारण कर लेती हैं। जब नदी मैदानी भागों में जाती है, तो इसमें मिट्टी तथा नाले आदि मिल कर पानी को गंदला कर देते

हैं। इस प्रकार सैंकड़ों मील की दूरी तय कर तथा मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को पार कर नदी अन्ततः समुद्र से जा मिलती है। अथाह समुद्र से, जोकि जल का भंडार है, मिलकर ही जल विश्राम पाता है और फिर से स्वच्छ एवं निर्मल बन जाता है। जो पानी समुद्र में मिलने की बजाय कहीं एक स्थान पर बंध जाता है, वह कुछ दिन बाद खराब हो जाता है और उसमें से दुर्गन्ध आने लगती है।

ठीक इसी प्रकार आत्मा भी परमात्मा का अंश है। जब यह आत्मा मनुष्य रूप को धारणकर संसार में आती है, तो माया इस पर अज्ञान-आवरण डाल कर इसे अपने बंधन में लेने का प्रयत्न करती है। जो मनुष्य समय के सन्त सद्गुरु की शरण-संगति ग्रहण कर परमात्म-प्राप्ति का मार्ग अपनाता है और मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों को पार करता हुआ निरन्तर आगे बढ़ता जाता है, वह एक दिन परमात्मा से एकाकार होकर परम शान्ति प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत जिसका रुझान माया की ओर होता है और जो इसके बंधन में आ जाता है, वह जन्म-जन्मान्तर तक दुःखी एवं अशान्त रहता है।

इसलिए प्रत्येक गुरुमुख का कर्त्तव्य है कि अपने विचारों का रुख जीवन के वास्तविक लक्ष्य—परमात्म-प्राप्ति की ओर रखते हुये सद्गुरु की आज्ञानुसार निरन्तर अपने पथ पर अग्रसर होता जाये। ऐसा करने से ही वह अपने उद्देश्य में सफल हो सकेगा और परमात्मा की प्राप्ति कर नित्य सुख एवं परम शान्ति प्राप्त कर सकेगा।"

उपरोक्त वचन फ़रमाने के उपरांत आप कुछ देर तक उस क्षेत्र के प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन करते रहे, तत्पश्चात् वापस बंगले पर लौट आये ।

बर्फीली पहाड़ियों पर घूमने के कारण कुछ महात्माओं को सर्दी लग गई। अन्य सब तो उपचार से शीघ्र ठीक हो गये, परन्तु महात्मा सन्तोषानन्द जी अत्यधिक अस्वस्थ हो गये। उनका स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरने लगा ।

लगभग बीस दिन श्रीनगर को कृतार्थ कर १५ जून सन् १९३९ ई० को आपने चकौड़ी के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में गुलमर्ग तथा खिलमर्ग होते हुए बारामूला पहुँचे। वहां तीन दिन विराजमान् रह कर आपने वहां की संस्कारी आत्माओं को वचनामृत के पावन सरोवर में स्नान कराया और उनके संतप्त हृदयों को शीतलता प्रदान की।

बारामूला से चलकर दुमेल होते हुए १९ जून को आप कोहमरी पहुँचे। इस क्षेत्र में महात्मा धर्मात्मानन्द जी सत्संग प्रचार किया करते थे। उन्हें दो दिन पूर्व ही श्री सद्गुरुदेव महाराज जी के शुभागमन का शुभ समाचार विदित हो गया था, अतः महात्मा जी काफी संगत के साथ आपके स्वागतार्थ सड़क पर प्रतीक्षा कर रहे थे। वहां की संगत ने आपके विश्राम आदि की भी पूर्ण व्यवस्था कर रखी थी ।

जब आप वहां पहुँचे, तो सब के हृदय-कमल खिल उठे। श्री दर्शन करके सब संगत कृतकृत्य हो गई। संगत ने वहां रुकने

के लिए श्री चरणों में विनय की, परन्तु श्री व्यासपूजा का पर्व चूँकि निकट था, अतएव आपने फ़रमाया—हम आपकी श्रद्धा भावना से अति प्रसन्न हैं। हम फिर कभी यहां आकर आपकी भावना पूर्ण करेंगे। अभी तो सभी प्रेमी हमारे साथ ही सन्त आश्रम चकौड़ी चलें।

यह सुनकर कुछ प्रेमी तो वैसे के वैसे ही बिना कुछ वस्त्रादि साथ लिये बस में बैठ गये। शेष ने अन्य साधनों द्वारा चकौड़ी प्रस्थान किया। आप भी वहां से चल कर मार्ग में असंख्य प्रेमियों को कृतार्थ करते हुये २४ जून सन् १६३६ ई० को सन्त आश्रम चकौड़ी पधारे।

क्रमशः

आवश्यक सूचना

सब पाठकों को सूचित किया जाता है कि 'आनन्द-सन्देश' पत्रिका के विषय में किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार करते समय अथवा मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या (चिट नम्बर) अवश्य लिखें। ग्राहक संख्या पते वाली चिट के ऊपर लिखी होती है। ग्राहक संख्या न होने से पत्र की तामील में कठिनाई होती है।

प्रबन्धक
आनन्द सन्देश कार्यालय

प्रेमा की आवाज़

स्वरः—रहा गर्दिशों में हरदम......॥

टेकः—क्या गीत गाऊँ तेरे, श्री सतगुरु जी प्यारे।
हम जीवों के हैं तूने, दुखड़े सकल निवारे॥

१—तेरी शरण जो पाई, खुशबख़्त हम कहाये।
चरणों में तेरे आके, जगे भाग हैं हमारे॥

२—दुनिया के झंझटों से, आज़ाद हम हुये हैं।
शुभकर्म से जो पाये, तेरे करम के इशारे॥

३—कोई और रही न चिंता, तेरा ही बस फिक्र है।
मेरी ज़िन्दगी के केवल, तुम्हीं हो इक सहारे॥

४—दिल में है यह तमन्ना, ऐ मेरे प्यारे स्वामी।
तेरा 'दास' मैं कहाऊँ, पूजूं चरण तुम्हारे॥

कल्याण मार्ग

सद्गुरु की शरण ग्रहण करो

(१७६)

"पूर्ण सद्गुरु की चरण-शरण ग्रहण कर उनकी आज्ञा के सांचे में जीवन ढालने से ही मन में विद्यमान ममता, अहंता तथा अहंकार आदि विकारों का नाश होकर हृदय में परमात्मा के नाम का वास होगा, जिससे इहलौकिक जीवन भी सुखमय बन जायेगा और नाम के प्रताप से मनुष्य सुगमता से भव से पार हो जायेगा।"

व्याख्या:—बिना सद्गुरु की सहायता, अनुग्रह एवं मार्ग-दर्शन के परमार्थ-पथ पर चलना तो एक ओर रहा, उस मार्ग के सूक्ष्म द्वार के अन्दर प्रविष्ट होना भी असम्भव है। मोह-माया के रंग में रंगा हुआ मोटा मन जब सद्गुरु-शब्द की घड़त से शुद्ध, निर्मल और सूक्ष्म बनता है, तभी उस सूक्ष्म द्वार के अन्दर प्रविष्ट हो पाता है।

यह बात तो एक बालक भी भलीभांति समझता है कि लकड़ी बढ़ई के हाथ में आकर रंदे से ही साफ होती और फिर उपयोगी वस्तु बनती है; सोना सुनार के हाथ में पड़कर ही सुन्दर आभूषण का रूप धारण करता है। अभिप्राय यह कि

प्रत्येक वस्तु कारीगर के हवाले होकर ही सुन्दर और उपयोगी रूप ग्रहण करती है। मनुष्य के मन पर भी जन्म-जन्मान्तर से विकारों की मैल चढ़ी हुई है, जैसा कि फ़रमान है:—

जनम जनम की इसु मन
कउ मलु लागी काला होआ सिआहु ॥
गुरुवाणी

अर्थात् इस मन को जन्म-जन्मान्तर से विकारों की मैल चिपटी हुई है, जिससे यह बहुत अधिक काला हो गया है।

ऐसा काला मन अपने आप साफ़ नहीं हो सकता। इस मन को शुद्ध और साफ करने तथा संवारने के लिये सद्गुरु की शरण में जाना अत्यावश्यक है। भाग्यवान् मनुष्य जब अपने मन को सद्गुरु के हवाले कर देता है, तो सद्गुरु उस मन से विकारों की मलिनता धोकर उसे शुद्ध-निर्मल बना देते हैं, जिस से मनुष्य दुःखी से सुखी बन जाता है। जब तक मन शुद्ध-निर्मल नहीं बनेगा, तब तक जीव को सुख की अनुभूति कदापि नहीं हो सकती। जिसका मुँह ही कड़ुवा हो, वह मीठी वस्तु का आनन्द कैसे ले सकता है? इसलिये यदि जीवन में सुख-आनन्द प्राप्त करना है, तो फिर पूर्ण सद्गुरु की शरण ग्रहण कर उनकी आज्ञा-मौज में चलना होगा तथा मनमति का पूरी तरह त्याग करना होगा ताकि मन से विकारों की मैल दूर होकर मन शुद्ध-निर्मल हो जाये और उसमें परमात्मा के पावन नाम का निवास हो जाये। सद्गुरु की कृपा के बिना सुख की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। कथन है:—

सतिगुरु भेटे सो सुखु पाए ॥
हरि का नामु मंनि वसाए ॥
नानक नदरि करे सो पाए ॥
आस अंदेसे ते निहकेवलु हउमै सबदि जलाए ॥

गुरुवाणी

अर्थः—सद्‌गुरु की शरण ग्रहण करने वाला ही सुख प्राप्त करता है। वही परमात्मा का नाम हृदय में बसाता है। सत्पुरुष श्री गुरुनानकदेव जी फ़रमाते हैं कि जिस पर सद्‌गुरु की कृपा-दृष्टि होती है, वही सब कुछ प्राप्त करता है। आशा-चिंता से रहित वह अपने अहम्भाव को सद्‌गुरु-शब्द (अथवा सद्‌गुरु द्वारा प्रदत्त नाम) द्वारा जला डालता है।

यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर परमात्मा की भजन-भक्ति और नाम-सुमिरण करके जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने के लिये ही मिला है। अन्य सब काम जैसे खाना-पीना तथा सोना आदि तो अन्य योनियाँ भी कर रही हैं। एक भजन-भक्ति का कार्य ही ऐसा है, जो केवल मनुष्य-जन्म में ही हो सकता है। इसलिये भजन-भक्ति तथा नाम-सुमिरण के अतिरिक्त अन्य जितने भी कार्य हैं, वे सब शून्य के समान हैं; जिनका कोई मूल्य नहीं। यही नहीं, अन्य सब कार्य, जोकि माया-काया से सम्बन्ध रखते हैं, जाल बनकर मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र में फंसाने का साधन हैं। पूर्ण सद्‌गुरु की शरण ग्रहण कर उनके बख़्शे हुये शब्द अथवा नाम द्वारा ही इस जाल को काटा जा सकता है और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। यदि मनुष्य ने यह कार्य न किया, तो फिर

सांसारिक दृष्टि से चाहे वह कितनी भी उन्नति क्यों न कर ले तथा कितने ही धन-पदार्थ एकत्र क्यों न कर ले, अन्ततः उसे आवागमन के चक्र में फंसकर नीच योनियों में ही जाना पड़ेगा। विचार करो कि यह भी कोई उन्नति है कि मनुष्य नीच योनियों में भ्रमण करता हुआ जन्मों-जन्मों तक दुःख-कष्ट उठाता फिरे ! यह बुद्धिमत्ता की बात तो न हुई।

इसलिये मनुष्य को इन सब बातों पर भलीभांति विचार करके मनुष्य-जन्म के दुर्लभ एवं मूल्यवान् समय को मात्र धन-पदार्थों तथा शरीर-इन्द्रियों के भोगों की प्राप्ति में ही नष्ट नहीं करना चाहिये, अपितु सद्‌गुरु की आज्ञानुसार इस समय को नाम-भक्ति में लगाकर जीवन को सुखमय एवं आनन्दमय बना लेना चाहिये। मनमति पर चलकर कोई भी मनुष्य न तो अपने विकारयुक्त मैले मन को शुद्ध एवं निर्मल बना सकता है और न ही दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। सत्पुरुष फ़रमाते हैं:—

मनमुख करम करे अहंकारी सभु दुखो दुखु कमाइ ॥
नानक मैला ऊजलु ता थीऐ जा सतिगुर माहि समाइ ॥

गुरुवाणी

अर्थः—मन के संकेतों पर चलने वाला जीव अहंकार से युक्त रहता है, फलस्वरूप हर समय दुःख ही प्राप्त करता है। सत्पुरुष फ़रमाते हैं कि मन की मैल तभी दूर होती है और वह तभी उज्ज्वल बनता है, जब मनुष्य सद्‌गुरु की आज्ञा में स्वयं को लय कर देता है अर्थात् मनमति का त्यागकर गुरुमति को धारण कर लेता है।

विकारयुक्त मलिन मन से मनुष्य जो कुछ भी सोचेगा, अपने लिये हानिप्रद बात ही सोचेगा, परिणामस्वरूप सुख-आनन्द की प्राप्ति के लिये दिन-रात प्रयत्न करने पर भी दुःख और अशान्ति ही उसके पल्ले पड़ेगी।

अभिप्राय यह कि यदि मनुष्य मनमति पर चलेगा, तो इस जीवन में भी सदा दुःखों, चिंताओं तथा अशान्ति से घिरा रहेगा और मरणोपरान्त भी दुर्गति को प्राप्त होगा। इसके विपरीत यदि वह गुरुमति को धारण करेगा, तो इस जीवन में सच्चा सुख-आनन्द प्राप्त करेगा और परलोक में भी उसे सद्गति मिलेगी। मनुष्य जन्म का यह अनमोल अवसर बार-बार हाथ नहीं आता, इसलिये इसे सद्गुरु की आज्ञा-मौज अनुसार व्यतीत करके जीवन का सच्चा लाभ प्राप्त करना चाहिये। सद्गुरु की शरण ग्रहण किये बिना मनुष्य के हृदय में चूँकि अज्ञान का गहन अंधकार छाया रहता है, इसलिये वह अज्ञानवश बार-बार शरीर–इन्द्रियों के भोगों की ओर ही दौड़ता है। फ़रमान हैः—

बाझु गुरू है अंध गुबारा ॥
अगिआनी अंधा अंध अंधारा ॥
बिसटा के कीड़े बिसटा कमावहि फिरि
बिसटा माहि पचावणिआ ॥

गुरुबाणी, माझ म० ३

अर्थः—गुरु की कृपा के बिना हृदय में गहरा अन्धेरा छाया रहता है। जो अज्ञानी है, जिसे गुरु-ज्ञान का प्रकाश नहीं मिला, वह पूरी तरह अन्धा (अर्थात् विवेकहीन) है। जैसे विष्ठा के

कीड़े सदा विष्ठा में ही रचे-पचे रहते हैं, वैसे ही अज्ञानी मनमुख जीव विषयों की प्राप्ति का ही यत्न करते तथा उन्हीं में सदा रचे-पचे रहते हैं।

जब मनुष्य को सौभाग्य से पूर्ण सद्गुरु की प्राप्ति हो जाती है और उनकी कृपा से उसके हृदय में ज्ञान की ज्योति जगमगा उठती है, तो फिर उसके मन से विकारों की मलिनता दूर हो जाती है और उसमें प्रभु के नाम का निवास हो जाता है, जिससे आवागमन का चक्र कट जाता है।

सत्पुरुष श्री गुरु नानकदेव जी के चरणों में किसी प्रेमी ने प्रश्न किया कि आवागमन का चक्र कैसे मिट सकता है ? सद्ग्रन्थों में इसके भिन्न-भिन्न उपाय लिखे हुये हैं। आप पूर्ण सन्त हैं, अतः आप इस पर कुछ प्रकाश डालें।

आपने फ़रमाया—

आवणु जावणु तउ रहै पाईऐ गुरु पूरा ॥
रामनामु धनु रासि देइ बिनसै भ्रमु कूरा ॥

गुरुवाणी, आसा म० १

अर्थः—जन्म-मरण का चक्र तभी समाप्त होता है, जब पूर्ण सद्गुरु की प्राप्ति होती है। सद्गुरु परमात्मा के नाम की सच्ची पूँजी प्रदान करता है, जिससे हृदय में विद्यमान सभी झूठे भ्रम नष्ट हो जाते हैं।

सभी सन्तों सत्पुरुषों एवं सद्ग्रन्थों का यही कथन है कि बिना सद्गुरु की कृपा के मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से कदापि

मुक्त नहीं हो सकता। श्री गुरु अर्जुनदेव जी महाराज फ़रमाते हैं:—

सासत बेद सिम्रिति सभि सोधे सभ एका बात पुकारी ॥
बिनु गुर मुकति न कोऊ पावै मनि वेखहु करि बीचारो ॥
गुरुवाणी, गूजरी म० ५

सत्पुरुष फ़रमाते हैं कि शास्त्र, वेद, स्मृतियां आदि सब धर्म-ग्रन्थों का हमने अवलोकन किया। सब एक ही सत्य उद्घाटित करते हैं कि गुरु की कृपा के बिना कोई भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। ऐ मनुष्य ! तू भी मन में इस तथ्य पर विचार करके देख।

इस जन्म की वास्तविक सफलता तो जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने में है न कि धन-सम्पत्ति तथा सांसारिक पदार्थ एकत्र करने में। यदि किसी मनुष्य से यह प्रश्न किया जाये कि तुम्हारी जेब में लाखों रुपये डाल कर तुम्हें शत्रुओं के हवाले कर दिया जाये अथवा तुम्हारे पास धन-सम्पत्ति तो न हो, परन्तु स्वतन्त्रता का जीवन हो, तो किस प्रकार का जीवन पसन्द करोगे—बन्धन वाला अथवा स्वाधीनता वाला, तो इसके उत्तर में वह यही कहेगा कि मैं लाखों रुपयों का क्या करूंगा ? मुझे तो स्वाधीन (अथवा मुक्त) जीवन पसन्द है। लाखों रुपये जेब में रखकर शत्रु की कैद के दुःख कौन सहे ?

ठीक इसी प्रकार मन तथा मन के विकारों रूपी शत्रुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि) के बन्धन में पड़ा हुआ मनुष्य लाखों-करोड़ों रुपये पास होते हुये भी सदा दुःखी और

अशान्त ही रहता है। सुख तो उसे तभी मिलेगा, जब वह इन विकारों से मुक्त हो जायेगा। और यह तो निश्चित ही है कि समय के पूर्ण सद्गुरु की शरण ग्रहण किये बिना न तो विकारों से मुक्ति मिलती है और न ही जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा होता है।

इसी प्रकार ही यदि किसी से पूछा जाये कि लाखों रुपये पास रखकर तुम्हें समुद्र में डूबना पसन्द है अथवा यह पसन्द है कि पास में कुछ भी न हो, परन्तु शरीर सकुशल रहे, तो डूबना कोई भी पसन्द नहीं करेगा। यहां तो भवसागर में डूबने का प्रश्न है, जिस से लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति के बल पर कोई पार नहीं हो सकता। भवसागर से तो मनुष्य सद्गुरु की कृपा से ही पार हो सकता है।

इसलिये विचारवान मनुष्य वही है, जो यह सोचकर कि कहीं मनुष्य जीवन का स्वर्णिम अवसर व्यर्थ न चला जाये, सब से पहला काम यह करता है कि समय के पूर्ण सद्गुरु की शरण ग्रहण कर तथा उनकी आज्ञा-मौज में चल कर अपने जीवन के उद्धार का यत्न करता है। सद्गुरु कोई साधारण मनुष्य नहीं होते, अपितु परब्रह्म परमेश्वर का साकार रूप होते हैं और मात्र जीवों के उद्धार के लिये ही इस धराधाम पर अवतार धारण करते हैं। सन्तों का कथन है:—

परब्रह्म परमेश्वर आये धर कर रूप साकार।
आत्मज्ञान देकर हैं करते जन–जन का उद्धार॥
वेद शास्त्र और सभी सन्तजन कहते यही पुकार।

सतगुरु बिन कोऊ न होये भवसागर से पार ॥

सन्तवाणी

एक बार श्री गुरु नानकदेव जी भ्रमण करते हुये एक गांव में पहुँचे। वहां दुनीचन्द नाम का एक अत्यन्त धनाढ्य व्यक्ति रहता था, जो उस ज़माने में सात लाख रुपये का स्वामी था। जिस दिन श्री गुरु नानकदेव जी उसके गांव में पहुँचे, उस दिन दुनीचन्द अपने पिता की याद में श्राद्ध कर रहा था। श्री गुरु नानकदेव जी के शुभागमन का समाचार सुनकर वह उनके चरणों में उपस्थित हुआ और विनय कर अत्यन्त सम्मान से उन्हें अपने घर ले गया। जब उसने अनेक प्रकार के व्यंजन उनके सामने परोसे, तो उन्होंने दुनीचन्द से पूछा—आज तुम्हारे घर क्या है ?

दुनीचन्द ने विनय की—आज मेरे पिता का श्राद्ध है। उनके निमित्त आज मैंने सौ ब्राह्मणों को खाना खिलाया है।

अन्तर्यामी श्री गुरु नानकदेव जी ने फ़रमाया—दुनीचन्द ! तुम्हारे पिता को आज तीन दिन से भोजन प्राप्त नहीं हुआ। वह भूखा बैठा है और तुम कहते हो कि उसके निमित्त तुमने सौ ब्राह्मणों को खाना खिलाया है।

दुनीचन्द ने पूछा—मेरे पिता इस समय कहाँ हैं ?

श्री गुरु नानकदेव जी ने फ़रमाया—यहाँ से पचास कोस की दूरी पर अमुक स्थान पर एक बघियाड़ (लकड़बग्घे) के रूप में तुम्हारे पिता बैठे हैं। तुम वहाँ प्रसाद लेकर जाओ, परन्तु डरना नहीं। तुम्हारे वहाँ जाने से उसकी मनुष्य-बुद्धि हो जायेगी और

वह प्रसाद खा लेगा।

दुनीचन्द ने वहाँ पहुँचकर देखा कि एक लकड़बग्घा एक पेड़ के नीचे बैठा है। वह उसके निकट चला गया, प्रसाद आगे रखा और प्रणाम कर कहा--पिता जी! आपके निमित्त मैंने आज सौ ब्राह्मणों को खाना खिलाया है।

सत्पुरुषों की कृपा से उस लकड़बग्घे की मनुष्य-बुद्धि हो गई। तब दुनीचन्द ने कहा--पिता जी! लकड़बग्घे की देह आपने क्यों पाई?

उसने उत्तर दिया—"मेरी यह दशा इसलिए हुई, क्योंकि मैंने किसी पूर्ण सद्गुरु की शरण ग्रहण नहीं की थी, जिससे मन तथा मन के विकारों के अधीन होकर मैंने जीवन बिताया। जब मेरा अन्तिम समय निकट आया, उस समय मेरे घर के निकट ही किसी ने गोश्त पकाया, जिसकी गन्ध मुझ तक पहुँची और मेरे मन में गोश्त खाने की इच्छा पैदा हुई। अन्तिम समय की उस वासना के अनुसार ही मुझे यह योनि मिली। इसलिये तुम को चाहिये कि पूर्ण गुरु की शरण ग्रहण कर उनके पवित्र शब्द (अथवा नाम) की कमाई करो ताकि अन्त समय तुम्हारा ध्यान मालिक की ओर लगा रहे और तुम्हारा जन्म संवर जाये।" यह कह कर उसने प्रसाद खा लिया।

इसी विषय में सन्तों का कथन है:—

॥ दोहा ॥

सहजो रहै मन वासना, तैसी पावै ठौर।
जहाँ आस तहँ बास है, निस्चै करी कड़ौर॥

देह छुटै मन में रहै, सहजो जैसी आस ।
देह जन्म तैसो मिलै, तैसे ही घर बास ॥
जाकी गुरु में बासना, सो पावै भगवान ।
सहजो चौथे पद बसै, गावत बेद पुरान ॥
परमेसुर की बासना, अन्त समय मन माहिं ।
तन छूटे हरि कूँ मिलै, उपजै बिनसै नाहिं ॥

सन्त सहजोबाई जी

दुनीचन्द घर वापस आया और श्री गुरु नानकदेव जी के चरणों में समस्त वृत्तांत कह सुनाया । तत्पश्चात् उनके चरणों में विनय की—मेरे पास सात लाख रुपये हैं, जिन में हर समय मेरा मन लगा रहता है । आप मुझे कोई ऐसी युक्ति बताएँ, जिस से यह माया परलोक में मेरे साथ जा सके ।

सत्पुरुष तो जगत में आते ही जीवों को प्रमाद की निद्रा से जगाने और उन्हें सत्पथ पर लगाने के लिये हैं, अतएव उन्होंने उसे एक सुई देते हुए फ़रमाया—तुम पहले हमारा एक काम करो । यह सुई संभालकर रख लो, परलोक में हम यह सुई तुम से वापस ले लेंगे ।

दुनीचन्द ने सुई ले ली और अपनी स्त्री के पास जा कर बोला—महापुरुषों ने यह सुई दी है और फ़रमाया है कि इसे परलोक में वापस ले लेंगे, इसलिये इस सुई को कहीं सम्भाल कर रख लो ।

उनकी पत्नी ने कहा—जबकि संसार की कोई भी वस्तु यहां तक कि मनुष्य की देह भी उस के साथ नहीं जाती, तो फिर

आप यह सुई कैसे साथ ले जाएँगे ? यह सुई उन्हें वापस कर दीजिये। ज्ञात होता है कि यह सुई उन्होंने केवल आपकी आँखें खोलने के लिए ही आपको दी है ताकि आपको इस बात का ज्ञान हो जाये कि एक सुई तक भी यहाँ से मरते समय साथ नहीं जाती। वे अवश्य ही पूर्ण महापुरुष हैं और हमारे कल्याणार्थ ही हमारे घर में पधारे हैं। इसलिये मेरी मानिये तो उनकी शरण ग्रहण कर जीवन का उद्धार कीजिये।

तत्पश्चात् दोनों ने श्री गुरु नानकदेव जी के चरणों में उपस्थित होकर विनय की—गुरुदेव ! हम आपकी शरण हैं, हमें भवसागर से पार कीजिये। तब श्री गुरु नानकदेव जी ने यह बाणी उच्चारण की—

लख मण सुइना लख मण रुपा लख साहा सिरि साह ॥
लख लसकर लख वाजे नेजे लखी घोड़ी पातिसाह ॥
जिथै साइरु लंघणा अगनि पाणी असगाह ॥
कंधी दिसि न आवई धाही पवै कहाह ॥
नानक ओथै जाणीअहि साह केई पातिसाह ॥

गुरुबाणी, मलार की वार

अर्थः—किसी के पास लाखों मन सोना हो, लाखों मन चांदी हो, लाखों शाहों का भी वह शाह हो, लाखों की सेना हो, लाखों वादन हों तथा उस बादशाह के पास लाखों घोड़े हों, परन्तु जहां संसार-सागर को पार करना है, जहां अथाह आग-पानी विद्यमान है, जहां किनारा दिखाई नहीं पड़ता, जहां लोग चीख-चीखकर शोर मचाते हैं, श्री गुरु नानकदेव जी फ़रमाते हैं

कि वहां पता चलता है कि वास्तविक अर्थों में बादशाह कौन है ?

बादशाह वास्तव में वही है, जो गुरु की आज्ञानुसार शब्द अथवा नाम की कमाई करके भवसागर से पार हो जाता है।

हुकमी होइ निबेड़ु गइआ जाणीऐ ॥
भउजल तारणहारु सबदि पछाणीऐ ॥

गुरुबाणी

अर्थः—आज्ञानुसार चलने से गुरु सब कार्य सुलझाता है। संसार-सागर से पार करने वाले गुरु के शब्द को पहचानो।

श्री गुरु नानकदेव जी के वचन सुनकर दोनों ने श्रद्धासहित उनकी स्तुति कर विनय की—आपने हमारे ऊपर अत्यन्त कृपा की है। आज हम कृतार्थ हो गये। हमें अपने शिष्यत्व में लीजिये। आपकी जैसी आज्ञा होगी, हम वैसा ही करेंगे।

दोनों उनके शिष्य हो गये। श्री गुरु नानकदेव जी ने उन्हें नाम का सच्चा धन बख़्शीश किया। आज्ञानुसार नाम की कमाई कर वे अपना जन्म सफल कर गये और लोक-परलोक संवार गये।

सद्‌गुरु के बख़्शे हुये नाम से जीव के मन में विद्यमान समस्त विकारों का नाश हो जाता है और उसका हृदय ज्ञान-प्रकाश से आलोकित हो जाता है। वह स्वयं तो भवसागर के पार हो ही जाता है, अन्य कइयों को भी तारने वाला बन जाता है। फ़रमान हैः—

सतिगुर सेवि लगे हरि चरनी वडै भागि लिवलागी ॥
कवल प्रगास भए साध संगे दुरमति बुधि तिआगी ॥

आठ पहर हरि के गुण गावै सिमरै दीन दैआला ॥
आपि तरै संगति सभ उधरै बिनसे सगल जंजाला ॥

गुरुबाणी, गूजरी म० ५

अर्थः—सद्गुरु की सेवा के माध्यम से ही सौभाग्यशाली मनुष्य की परमात्मा के चरणों से लिव लगती है। सत्संगति में हृदय-कमल आलोकित हो जाता है, जिससे मनुष्य के मन में विद्यमान दुर्मति अथवा विकारों की मैल दूर हो जाती है। सद्गुरु की कृपा से वह आठों पहर प्रभु के गुणगान करता तथा दीन-दयाल प्रभु का सुमिरण करता है, फलस्वरूप वह स्वयं तो मुक्त होता ही है, अपने सम्पर्क में आने वालों का भी उद्धार करता और मोह-माया के बन्धनों को तोड़ देता है।

धन्य हैं वे गुरुमुखजन, समय के पूर्ण सद्गुरु की शरण में गुरुमति को धारणकर जो भजन-भक्ति एवं नाम की कमाई में संलग्न हैं। ऐसे सौभाग्यशाली गुरुमुखों का जीवन ही वास्तव में सफल एवं सकारथ है।

उपदेश

स्वरः--तेरे पूजन को भगवान्......॥

टेकः—जपले श्री सतगुरु का नाम,
जिससे हो तेरा कल्याण ॥

१–नाम बिना न खाली जाए,
तेरा स्वांस जो आए जाए ।
इसका पूरन रखना ध्यान ॥

२–जब तू ऐसा यत्न करेगा,
तेरे अंग–संग नाम रहेगा ।
यह सब सन्तों का फ़रमान ॥

३–सतगुरु पल–पल तुझे चितायें,
काल के बंध से तुझे छुड़ायें ।
यह उनका उपकार महान ॥

४–गुरु चरणों से लगा ले चीत,
सतगुरु साचे धुर के मीत ।
'दासनदास' हक़ीक़त जान ॥

सदुपदेश
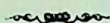
पुराणों में एक दृष्टांत का वर्णन है। यह रोचक दृष्टांत मुनि वसिष्ठ जी भगवान् श्रीराम जी को सुनाते हुये कथन करते हैं कि एक बार एक वन में मैंने एक अत्यन्त शक्तिशाली और निराले प्राणी को देखा। उसके सहस्रों हाथ, सहस्रों पाँव, सहस्रों नेत्र तथा सहस्रों ही मुख थे। अपने सहस्रों विशाल नेत्रों से वह एक साथ ही सहस्रों पदार्थों को देखकर चंचल हो उठता और अपने सहस्रों हाथों से उन्हें पकड़ने के लिये तेज़ी से लपकता। तत्पश्चात् अपने सहस्रों मुखों से उन सबको हड़पने का प्रयत्न करता। अभी उन्हें पूरी तरह मुख में डाल भी न पाता था कि उन्हें छोड़कर अन्य पदार्थों के पीछे भागने लगता। यदि कोई पदार्थ उसके हाथ न लगता, तो वह झुँझला उठता और व्याकुल होकर ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगता। इस प्रकार वह अपने सहस्रों पांवों से लगातार सारा दिन दसों दिशाओं में दौड़ता रहा। रात्रि होने पर वह एक अन्धे कुएँ में गिर पड़ा। जहां सहस्रों की संख्या में विषैले जन्तु रेंग रहे थे। उस प्राणी के उस कुएँ में गिरते ही वे सब उसे चिपट गये और उसे डंक मारने लगे। बहुत-से उसका माँस नोच-नोचकर खाने लगे और बहुत-से उसका रक्त चूसने लगे। इससे उसे असहनीय वेदना हुई, जिससे वह रातभर चीखता-चिल्लाता और तड़पता रहा। सवेरा होने पर वह उस कुएँ में से बाहर निकल आया। बाहर आते ही वह रात का सारा कष्ट भूल गया और फिर उसी

प्रकार पहले दिन की तरह ही उसने पदार्थों के पीछे दसों दिशाओं में भागना आरम्भ कर दिया। दूसरी रात फिर वह उसी अन्धे कुएँ में गिर पड़ा। इस प्रकार यह क्रम नित्यप्रति चलता कि रात भर तो वह उस अंधे कुएँ में गिरकर बहुत कष्ट पाता, परन्तु प्रातः होते ही रात के सब कष्ट भूलकर वह पुनः उसी प्रकार भागदौड़ आरम्भ कर देता।

यह रोचक दृष्टांत सुनाकर मुनि वसिष्ठ जी भगवान् श्रीराम जी को सम्बोधित करते हुये बोले—हे राम जी! इस विषय में आप कुछ बता सकते हैं कि वह निराला प्राणी कौन है और उसका क्या नाम है?

भगवान् श्री राम ने कहा—मुनिदेव! आप ही इस निराले जीव पर प्रकाश डालिये।

तब मुनि वसिष्ठ जी बोले—मनुष्य का मन ही वह शक्तिशाली प्राणी है, जिसके सहस्रों संकल्प-विकल्प, तरंगें, कामनायें तथा वासनायें उसके सहस्रों हाथ, पाँव, मुख और नेत्र हैं। वह वन कौनसा है? यह संसार ही वह वन है, जिसमें रहता हुआ यह मन सांसारिक पदार्थों तथा विषयभोगों के पीछे दीवाना हुआ उनकी प्राप्ति के लिये दसों दिशाओं में भागता रहता है। दिन से अभिप्राय मनुष्य की आयु से है, क्योंकि मन के अधीन हुआ मनुष्य सम्पूर्ण आयु सांसारिक पदार्थों तथा विषयभोगों की ओर भागता रहता है। चाहे कितने ही पदार्थ उसे प्राप्त क्यों न हो जायें, वह कभी तृप्त नहीं होता। यदि कोई भोगपदार्थ उसे प्राप्त नहीं होता, तो दुःखी होता और कलपता है। रात से अभिप्राय मृत्यु से है और वह अन्धा कुआँ घोर नरक है। नरक

में चिरकाल तक नारकीय यातनायें एवं कष्ट भोगने के उपरांत जब यह पुनः संसार में आता है तो उन कष्टों को पूर्णतया भूल कर पुनः विषयभोगों के पीछे भागना आरम्भ कर देता है।

दृष्टांत का अभिप्राय यह कि मनुष्य का मन अत्यन्त शक्तिशाली है और सांसारिक भोगैश्वर्यों एवं विषयरसों का दीवाना है। उनकी खोज में यह दसों दिशाओं में भागता रहता और उनकी प्राप्ति के लिये हर समय व्याकुल और परेशान रहता है; एक पल भी यह चैन से नहीं बैठता।

अत्यन्त शक्तिशाली होने से यह शीघ्र मनुष्य के वश में भी नहीं होता, जैसा कि सत्पुरुष श्री गुरु तेगबहादुर जी का फ़रमान है:—

माई मनु मेरो बसि नाहि ॥
निसबासुर बिखिअन कउ धावत किहि बिधि रोकउ ताहि ॥
गुरुबाणी, सोरठि म० ९

अर्थः—अपने माध्यम से जीवों की दशा का वर्णन करते हुये सत्पुरुष फ़रमाते हैं कि मेरा मन मेरे वश में नहीं है। अनियंत्रित होने से यह रात-दिन विषयरसों की प्राप्ति के लिये भागदौड़ करता रहता है। मैं इसे किस प्रकार रोकूँ ?

मनुष्य के मन में अनन्त कामनायें विद्यमान हैं, जिनकी गिनती करना असम्भव है। मन के विषय में तो सत्पुरुषों ने यहाँ तक फ़रमा दिया है कि—

"जेती लहर समुद्र की, तेती मन की दौड़"

अर्थात् जितनी समुद्र की लहरें हैं, उतनी ही तरंगें मन की भी हैं।

इन तरंगों अथवा कामनाओं के फलस्वरूप मनुष्य का मन हर समय चंचल बना रहता है और सांसारिक पदार्थों तथा विषयरसों के पीछे भागता रहता है। उसे विषय-सेवन का इतना अधिक चसका लगा हुआ है कि एक पल के लिये भी यह उनसे मुँह मोड़ना नहीं चाहता। वह हर समय विषयरसों की प्राप्ति के यत्न में तथा उनके सेवन में ही व्यस्त रहने का इच्छुक बना रहता है। रोकने पर भी यह उधर ही भागता है। सन्तों का कथन है:—

हटकि हटकि मन राखत जु छिन छिन,
सटकि सटकि चहुँ ओर यह जात है।
लटकि लटकि ललचाय लोल बार बार,
गटकि गटकि करि विषयफल खात है॥

सन्त सुन्दरदास जी

अभिप्राय यह कि विषयों की ओर से लाख रोकने पर भी यह मन रुकने का नाम नहीं लेता और रुके भी कैसे? मन को रोकना कोई साधारण काम तो है नहीं। भर्तृहरि जी तो यहाँ तक लिखते हैं कि:—

आसंसारं त्रिभुवनमिदं चिन्वताँ तात ताढङ्-
नैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रवर्त्मागतो वा।
योऽयं धत्ते विषयकरिणीगाढरूढ़ाभिमान-
क्षीवस्यान्तः करणकरिणः संयमालानलीलाम्॥

वैराग्यशतक ४६

हे भाई! मैं सारे संसार में घूमा और तीनों लोकों में भी मैंने खोज की, पर मैंने ऐसा वीर पुरुष न कहीं देखा और न ही

सुना, जो मन को वश में कर सका हो, क्योंकि मन सांसारिक पदार्थों तथा विषयरसों के पीछे उसी प्रकार दीवाना होकर भागता है जैसे मस्त हाथी विषयवासना के अधीन होकर उसकी पूर्ति के लिये उच्छृंखल होकर भागता है।

कहने का तात्पर्य यह कि मन को विषयों से हटाना अथवा यूँ कहिये कि उसे वश में रखना जिससे कि यह विषयों की ओर न भागने पाये, एक अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि यह अत्यन्त शक्तिशाली और चंचल है। बड़े-बड़े शूरवीर योद्धा भी, जिन्होंने बड़े-बड़े युद्धों में विजय प्राप्त की, इस मन के हाथों पराजित हो गये। लाख प्रयत्न करने पर भी वे मन पर विजय प्राप्त न कर सके। इसी विषय पर एक कथा है:--

योगीराज मत्स्येन्द्रनाथ के समय की बात है। दक्षिण देश में एक बड़ा ही बलवान्, पराक्रमी एवं प्रतापी राजा राज्य करता था, जिसका नाम था पारसनाथ। प्रतापी तो वह था ही, विद्वत्ता में भी वह अद्वितीय था। सभी वेदों-शास्त्रों का उसने भलीभाँति अध्ययन किया था। अपने पराक्रम से सभी राजाओं पर विजय प्राप्त कर वह चक्रवर्ती राजा बन गया था। साथ ही वेदों-शास्त्रों के दिग्गजों तथा विद्वान ऋषियों-मुनियों को भी उसने शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था। चूँकि उसे पूर्ण सद्‌गुरु की प्राप्ति नहीं हुई थी, अतएव इस विजय के फलस्वरूप उस पर अहंकार सवार हो गया। अहंकार के वशीभूत होकर उसने ऋषियों, मुनियों तथा विद्वान पण्डितों की एक सभा बुलाई और उसमें सबके समक्ष यह घोषणा की—आज सृष्टि में सर्वाधिक बलशाली, पराक्रमी तथा विद्वान मैं ही हूँ। मेरे सदृश आज संसार में अन्य कोई नहीं।

इसलिये आज से आप मुझे ही सर्वशक्तिमान् समझकर मेरी ही पूजा-आराधना किया करें।

उसका ऐसा कथन सुनकर सभी अवाक् रह गये। सबने सोचने-विचारने के लिये राजा से समय मांगा। राजा पारसनाथ उन्हें एक दिन का समय देकर राजमहल में चला गया।

उसके जाने के बाद सभी इस नई स्थिति के विषय में विचार-विमर्श करने लगे कि पारसनाथ चूंकि अत्यन्त शक्तिशाली है, अतः उसे हराना तो असम्भव ही है, परन्तु उसकी बात मानना भी कदापि उचित नहीं। अब क्या किया जाये ? यदि हम लोगों ने उसकी बात न मानी, तो फिर वह अत्याचार करने पर उतारू हो जायेगा। अन्ततः उन्हें एक युक्ति सूझी। उन दिनों योगीराज मत्स्येन्द्रनाथ तपोबल में बहुत बढ़े-चढ़े थे। उस समय वे एक टापू में समाधि में लीन थे। सभी ने यह तय किया कि राजा पारसनाथ को योगी मत्स्येन्द्रनाथ के पास भेजना चाहिये। उन का विचार यह था कि जब राजा अहंकारवश उन्हें समाधि से बलपूर्वक जगायेगा, तो उनकी क्रोधाग्नि से भस्म हो जायेगा।

दूसरे दिन राजा पारसनाथ के आने पर जब पुनः सभा एकत्र हुई तो एक वयोवृद्ध ऋषि ने राजा पारसनाथ को सम्बोधित करते हुये कहा—राजन् ! आप वीरता और विद्वत्ता—दोनों में अद्वितीय हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। हममें से कोई भी आपका मुकाबला करने में समर्थ नहीं है। हमने आपस में विचार-विमर्श कर यह निश्चित किया है कि यदि योगीराज मत्स्येन्द्र-नाथ, जो इस समय हमारे अग्रणी हैं, आपको सर्वशक्तिमान् मान कर आपकी पूजा-आराधना करना स्वीकार कर लें, तो फिर हम भी

वैसा ही करने को तैयार हैं।

राजा पारसनाथ पर तो मन पूरी तरह हावी था, अतएव वह तुरन्त बोल उठा—बताओ ! योगी मत्स्येन्द्रनाथ कहां मिलेंगे ताकि इस बात का तुरन्त निर्णय हो जाये ? मैं अभी सैनिक भेज कर उन्हें यहीं बुलवाता हूँ।

वयोवृद्ध ऋषि ने कहा—वे इस समय अमुक टापू में समाधि में स्थित होकर ब्रह्म का ध्यान कर रहे हैं। आपके सैनिक उन्हें यहां नहीं ला सकते, क्योंकि वे अत्यन्त शक्तिशाली हैं।

यह सुनकर पारसनाथ क्रोध में भरकर उठ खड़ा हुआ। महल में आकर उसने अपने मंत्री को बुलाकर आदेश दिया—सेना को तैयार करो। योगी मत्स्येन्द्रनाथ के पास हम स्वयं जायेंगे।

मंत्री अत्यन्त विचारवान् और भक्तिमान् था। उसने मन में सोचा कि अहंकार के वशीभूत होने के कारण इस समय राजा को अपना भला-बुरा कुछ नहीं सूझ रहा है, परन्तु मंत्री होने के नाते मेरा यह कर्त्तव्य है कि वह काम करूं जिससे इसका हित हो। यह सोचकर वह बोला—राजन् ! महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ के पास कोई सेना तो है नहीं। वे तो एक योगीपुरुष हैं, जो उस एकान्त स्थान पर समाधि लगाये भजनाभ्यास में लीन हैं, फिर सेना लेकर उनके पास जाने की क्या आवश्यकता है ? उनको पकड़ लाने के लिये तो आप और मैं—दो ही व्यक्ति बहुत हैं। हां ! यदि आपका विचार कुछ सैनिक साथ ले जाने का ही है, तो दो-चार सैनिक साथ ले लीजिये।

राजा को मंत्री का परामर्श पसन्द आया। उसने मंत्री को

तैयारी का आदेश दिया। मंत्री इस बात को भलीभाँति समझता था कि किसी सिद्धपुरुष को समाधि से जगाना मानो स्वयं को उनकी क्रोधाग्नि में जलाना है। अतएव उसने लोहे की एक प्रतिमा भी आवश्यक सामान के साथ रखवा ली।

दूसरे दिन राजा तथा मंत्री ने दो विश्वस्त सैनिकों के साथ उस टापू की ओर प्रस्थान किया। वहां पहुँचकर उन्होंने देखा कि योगी मत्स्येन्द्रनाथ एक अत्यन्त रमणीक स्थान पर पद्मासन लगाए समाधि में लीन हैं। मंत्री ने उनके सम्मुख कुछ दूरी पर लोहे की प्रतिमा खड़ी करवा दी और राजा पारसनाथ तथा सैनिकों सहित एक ओर पेड़ की आड़ में छिप गया। तत्पश्चात् स्तुति गायनकर मंत्री ने योगी मत्स्येन्द्रनाथ को समाधि से जगाने का प्रयत्न किया। कुछ देर के प्रयत्न से उनकी समाधि भंग हुई। समाधि भंग होने से वे क्रोधित हो उठे, फलस्वरूप जैसे ही उन्होंने आंखें खोलीं, लोहे की प्रतिमा तत्काल जलकर भस्म हो गई। यह देख कर राजा पारसनाथ के प्राण सूख गए। मारे भय के वह थर-थर कांपने लगा। उसका पूरा शरीर पसीने से भीग गया।

कुछ देर बाद जब योगी मत्स्येन्द्रनाथ का क्रोध शान्त हुआ, तब उन्होंने उच्च परन्तु शान्तिपूर्ण वाणी में कहा—मुझे समाधि से किसने जगाया ?

योगी मत्स्येन्द्रनाथ की शान्तिपूर्ण आवाज सुनकर मंत्री ने राजा से कहा—योगी का क्रोध अब शान्त हो चुका है, अतः अब उनके सम्मुख जाने में कोई भय नहीं है।

यह कहकर मंत्री योगी मत्स्येन्द्रनाथ की ओर चल दिया। राजा पारसनाथ कुछ देर के लिये भयभीत अवश्य हो गया था, परन्तु था तो वह एक शूरवीर योद्धा, अतः उसने शीघ्र ही अपने को संभाल लिया और मंत्री के पीछे-पीछे वह भी योगी की ओर चल पड़ा।

मंत्री ने योगी के सम्मुख जाकर प्रणाम किया, परन्तु पारसनाथ चुपचाप उनके सामने खड़ा हो गया। योगी मत्स्येन्द्रनाथ ने एक गम्भीर दृष्टि दोनों पर डाली, तत्पश्चात् मधुर वाणी में बोले—आप लोग किस प्रयोजन से यहां आये हैं ?

उत्तर में राजा पारसनाथ, जोकि स्वयं को अब पूर्णतया संभाल चुका था, बोला—मेरा नाम राजा पारसनाथ है। मैंने पृथ्वी के सभी राजाओं को अपने बाहुबल से परास्त कर उन्हें अपने अधीन कर लिया है। इसके साथ-साथ मैंने ऋषियों, मुनियों तथा विद्वान पण्डितों को भी शास्त्रार्थ में परास्त किया है। इस समय संसार में मेरे समान न तो कोई शक्तिशाली है और न ही विद्वान; मैं सभी को परास्त कर अपने अधीन कर चुका हूँ। अन्य सभी तो मुझे सर्वशक्तिमान् मानकर मेरी पूजा-आराधना करने को तैयार हैं, परन्तु उन्होंने आपको अग्रणी मानकर अन्तिम निर्णय आप पर छोड़ा है। इसलिये आप मुझसे या तो शास्त्रार्थ करें या युद्ध करें, अन्यथा मुझे सर्वशक्तिमान् मान लें।

योगी मत्स्येन्द्रनाथ समझ गये कि राजा इस समय पूर्णतः मन के अधीन है और अपना हित-अहित सोचने में असमर्थ है। उसकी ऐसी दशा देख कर उनका हृदय द्रवित हो उठा और वे उसके कल्याण के लिये कोई युक्ति सोचने लगे। उन्हें चुप देखकर

राजा पारसनाथ पुनः बोला—आपने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया।

योगी मत्स्येन्द्रनाथ बोले—राजन् ! मैं न तो कोई विद्वान हूँ और न ही कोई योद्धा जो तुमसे शास्त्रार्थ अथवा युद्ध करूँ। मैं तो एक साधारण योगी हूँ और एक अत्यन्त शक्तिशाली शत्रु से त्रस्त और परेशान होकर मैंने इस टापू में शरण ली है।

राजा मन ही मन विचार करने लगा कि यह तो कोई बहुत ही डरपोक व्यक्ति दिखाई देता है, जो अपने शत्रु का सामना करने की अपेक्षा यहां भाग आया है। अब तो मेरा काम बना-बनाया है। यह सोचकर वह प्रकट में बोला—आपका वह शत्रु कौन है ? आप मुझे उसका नाम बतायें और फिर मेरा पराक्रम देखें कि मैं उसको कैसे पराजित कर और बन्दी बनाकर आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।

योगी मत्स्येन्द्रनाथ ने मुस्कराते हुये कहा— राजन् ! तुम उस का सामना नहीं कर सकते। वह तो इतना अधिक शक्तिशाली है कि बड़े-बड़े महारथी और चक्रवर्ती राजा भी उसकी शक्ति के सामने घुटने टेक चुके हैं। उसने सारे संसार पर अपना आधिपत्य जमा रखा है। वह जिसे जैसे चाहता है नचाता है, फिर तुम भला उसे अपने अधीन कैसे कर सकते हो ?

योगीराज की बातें सुनकर राजा पारसनाथ क्रोध से तिलमिला उठा और तलवार खींचकर गरजते हुये बोला— इस समय संसार में किसका ऐसा साहस है कि मेरा सामना कर सके ? बड़े-बड़े शासक और राजा भी, जिनके पास अपार सेना थी, आज मेरे अधीन हैं। योगीराज ! ज्ञात होता है कि आप बहुत दिनों से

समाधि में लीन हैं। यही कारण है कि आप मेरी शक्ति से अनभिज्ञ हैं, अन्यथा आप ऐसी बातें न करते। आज मेरा नाम सुनते ही शूरवीर से शूरवीर भी एक पल में मेरी अधीनता स्वीकार कर लेता है।

योगी मत्स्येन्द्रनाथ बोले—औरों को तुमने चाहे अपने अधीन कर लिया होगा, परन्तु उसे अधीन करना तुम्हारी शक्ति से परे है।

राजा पारसनाथ तड़पकर बोला – बस-बस ! मेरे सामने उसकी शक्ति की इतनी महिमा न करें। आप केवल उसका नाम बतायें और फिर मेरी शक्ति देखें। प्रथम तो मुझे विश्वास है कि मैं अब तक उसे अधीन कर चुका हूँगा। यदि किसी तरह से वह बच भी गया है, तो कुछ ही पलों में उसे अपने अधीन न कर लूँ, तो मेरा नाम पारसनाथ नहीं।

योगी मत्स्येन्द्रनाथ बोले—तो फिर ठीक है। हम तुम्हें इस शक्तिशाली शत्रु का नाम बताते हैं। वह प्रबल शत्रु कहीं बाहर नहीं है, अपितु तुम्हारे अन्दर विद्यमान तुम्हारा मन है। यदि तुमने इस पर विजय प्राप्त कर ली है, इसे अपने अधीन कर लिया है, तब तो हम मान लेंगे कि वास्तव में ही तुम सर्वशक्तिमान् हो। यदि तुमने इस प्रबल शत्रु पर अभी तक विजय प्राप्त नहीं की, इसे वश में नहीं किया, तो फिर सम्पूर्ण संसार पर विजय प्राप्त कर लेने से लाभ ही क्या ! क्योंकि यह प्रबल शत्रु तो तुम्हें अपने संकेतों पर सदा ही नचाता रहेगा।

राजन् ! हम जानते हैं कि बड़े-बड़े राजाओं को अपने अधीन कर लेने के उपरांत भी तुम अभी तक अपने मन को अधीन नहीं

कर पाये। किन्तु इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं, क्योंकि मन रूपी इस प्रबल शत्रु को अधीन करना कोई सुगम कार्य नहीं है। इसे तो बड़े-बड़े शूरवीर और ऋषि-मुनि भी वश में नहीं कर सके; वे भी इसके सामने परास्त हो गये, फिर तुम्हारा इसके सामने क्या अस्तित्व है।

हे राजन्! हम तुम्हीं से पूछते हैं। क्या तुमने मन रूपी इस प्रबल शत्रु पर विजय प्राप्त कर ली है? क्या तुमने इसे अपने अधीन कर लिया है? यदि नहीं, तो फिर तुम स्वयं को सर्वशक्तिमान् कैसे कह सकते हो?

यह कहकर योगीराज मत्स्येन्द्रनाथ राजा पारसनाथ की ओर देखने लगे। पारसनाथ मौन खड़ा था। उसे मौन देखकर योगी मत्स्येन्द्रनाथ पुनः बोले—राजन्! चुप क्यों हो? हमारे प्रश्नों का उत्तर क्यों नहीं देते? बताओ! क्या तुम्हारे मन में संकल्प-विकल्प नहीं उठते? क्या सांसारिक कामनायें तुम्हें नहीं सतातीं? क्या तुम्हारा मन विषयभोगों की ओर नहीं दौड़ता? क्या मन की सेना के वीर योद्धाओं—काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकारादि को तुमने पराजित कर लिया है?

राजा पारसनाथ उसी प्रकार गुमसुम खड़ा रहा। योगी मत्स्येन्द्रनाथ के यथार्थता से पूर्ण वचनों ने उसके अन्दर उथल-पुथल मचा दी थी। वह अभी उत्तर देने की सोच ही रहा था कि वे पुनः बोल उठे—राजन्! हमारी अनुभवी आंखें यह स्पष्ट देख रही हैं कि तुमने मन को अधीन नहीं किया, अपितु उसने ही तुम्हें अधीन कर रखा है। बोलो! क्या यह सत्य नहीं है?

राजा पारसनाथ ने मौन तोड़ा—— योगीराज! आपका कथन पूर्णतया सत्य है। मैंने मन को अधीन नहीं किया, अपितु उस ने ही मुझे अधीन कर रखा है। वह मुझे दिन-रात नचाता रहता है। मुझे उसकी दासता से मुक्ति दिलाइये।

यह कहकर वह योगी मत्स्येन्द्रनाथ के चरणों पर गिर पड़ा और उनका शिष्य हो गया।

ऐसे ही सम्राट् सिकन्दर की कथा भी बहुत प्रसिद्ध है। भारत के पश्चिमी भाग पर विजय प्राप्तकर जब सिकन्दर की सेना आगे बढ़ी, तो उसका एक ऐसे मार्ग से गुज़र हुआ, जहां एक उच्च कोटि के महात्मा जी निवास करते थे। चूँकि सम्राट् सिकन्दर की वीरता और विजय की दूर-दूर तक धूम मची हुई थी, अतः वह जिधर से निकलता, आसपास के नगरों और ग्रामों के लोग उसके सम्मान में मार्ग के दोनों ओर खड़े हो जाते और अपनी-अपनी स्थिति अनुसार उसे धन-पदार्थ भेंट करते। सिकन्दर के अंग-रक्षक उसकी सवारी के आगे-आगे चल रहे थे। जब वे महात्मा जी की कुटिया के निकट पहुँचे, उस समय वे कुटिया के बाहर एक पेड़ के नीचे आसन बिछाये ध्यानमग्न बैठे थे। उन्हें सिकन्दर के सम्मान में उठते न देखकर कुछ सैनिक घोड़े दौड़ाते हुए उनके निकट जा पहुँचे। उनमें से एक सैनिक घोड़े से नीचे उतरा और महात्मा जी को कंधों से पकड़कर झिंझोड़ते हुए उच्च स्वर में बोला——सम्राट् सिकन्दर की सवारी आ रही है। उठ! और उनका सम्मान कर। वे प्रसन्न होकर तुम्हें मालामाल कर देंगे।

वे सैनिक इस बात से पूर्णतः अनभिज्ञ थे कि जिनके हृदय में

प्रभु के नाम की लगन होती है, वे तो सम्राटों के भी सम्राट् होते हैं। वे संसार के धन-पदार्थों की चाह नहीं करते, अपितु सारा संसार उनके चरणों में झुकने को तत्पर रहता है। महात्मा जी ने उस सैनिक की बात पर तनिक भी ध्यान न दिया और उसी प्रकार बैठे रहे मानो उन्होंने उसकी बात सुनी ही न हो।

सैनिक ने दोबारा अपनी बात दोहराई, परन्तु महात्मा जी अपनी धुन में मस्त वैसे ही बैठे रहे। यह देखकर दो-तीन और सैनिक घोड़ों से उतर आये। वे उन्हें बलपूर्वक उठाने का प्रयत्न कर ही रहे थे कि सिकन्दर की सवारी उस स्थान के निकट पहुँच गई। सैनिकों से सब बात विदित होने पर वह स्वयं घोड़ा दौड़ाते हुए महात्मा जी के सम्मुख जा पहुँचा और बड़े रोब से बोला--ऐ फ़कीर देख! संसार का महान् योद्धा विश्व-विजेता सम्राट् सिकन्दर तेरे सामने है।

सिकन्दर की बात सुनकर महात्मा जी ठहाका मारकर हंस पड़े और बोले-तू और सम्राट्? ऐ सिकन्दर! तू भूलता है। सम्राट् तू नहीं, सम्राट् तो हम हैं। तू तो हमारे गुलाम का भी गुलाम है।

महात्मा जी के ये शब्द सुनते ही सैनिकों ने तलवारें खींच लीं। सिकन्दर ने हाथ के संकेत से उन्हें मना करते हुए महात्मा जी से कहा—मैं आपके गुलाम का गुलाम कैसे हुआ? मैं तो विश्व विजयी सम्राट् सिकन्दर हूँ।

महात्मा जी बोले—

॥ शेअर ॥

सिकन्दर मत कह तू शहंशाह अपने को।

खुद को शहंशाह समझना है ख़याले-ख़ाम ॥
जिस मन को हमने ज़ेर कर रखा है ।
तू उसी मन का बना हुआ है गुलाम ॥

ऐ सिकन्दर ! जिस मन को काबू में करके हमने गुलाम बना रखा है, तू उसी मन का गुलाम बना हुआ है। फिर तू हमारे गुलाम का भी गुलाम हुआ कि नहीं। बता ! क्या तू मन का गुलाम नहीं है ? क्या तू उसके संकेतों पर नहीं चल रहा है ?

बात थी भी यथार्थ, सिकन्दर इसका क्या उत्तर देता ! उस का सारा अभिमान चूर हो गया। उसने महात्मा जी से अपनी भूल के लिए क्षमा मांगी।

कथाओं का अभिप्राय यह कि मन को वश में करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु यह भी एक यथार्थता है कि जब तक मन को वश में नहीं किया जायेगा, तब तक मनुष्य को शान्ति की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिए इसे वश में करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

यहां प्रश्न उठ सकता है कि मन को वश में करना जबकि बहुत कठिन है, जबकि बड़े-बड़े शूरवीर भी इसे वश में नहीं कर सके, तो आम मनुष्य इसे वश में कैसे कर सकता है ? यही शंका अर्जुन के मन में भी उत्पन्न हुई थी और उसने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज से पूछा था कि—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥
श्रीमद्भगवद्गीता ६/३४

अर्थः—हे कृष्ण ! यह मन बड़ा चंचल, प्रमाथी (प्रमथन स्वभाव वाला), बड़ा दृढ़ तथा बलवान् है, इसलिए इसको वश में करना मैं वायु के रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।

उपरोक्त श्लोक में मन के साथ अर्जुन ने चार विशेषण लगाये हैं—(१) चंचल (२) प्रमाथी (३) दृढ़ और (४) बलवान्।

(१) चंचलः—मन बंदर की तरह चंचल है। जैसे बन्दर की यह प्रकृति है कि वह एक पल के लिये भी शान्त और स्थिर होकर नहीं बैठता, हर समय उछल-कूद मचाता रहता है, वैसा ही हाल मन का भी है। यह भी हर समय इधर-उधर भागता रहता है, यहां तक कि मनुष्य के सो जाने पर भी इसकी भागदौड़ जारी रहती है।

(२) प्रमाथीः—मन मथानी के सदृश प्रमथन स्वभाव वाला है अर्थात् जैसे मथानी दूध-दही को मथ डालती है, वैसे ही मन भी मनुष्य को पूर्णतः क्षुब्ध कर देता है।

(३) दृढ़ः—मन गोह के सदृश अत्यन्त दृढ़ है। जिस प्रकार गोह जिस वस्तु को भी पकड़ती है, बड़ी दृढ़ता से पकड़ती है, उसी प्रकार मन भी जिस विषय में रमता है, उसको इतनी दृढ़ता से ग्रहण कर लेता है कि उसके साथ तदाकार-सा हो जाता है।

(४) बलवान्ः—मन मस्त हाथी की तरह बलवान् है। जैसे मस्त हाथी उच्छृंखल हो जाता है, वैसा ही हाल मन का भी है।

अब आप स्वयं विचार कीजिये कि ऐसे मन को वश में

करना कठिन है या नहीं। किन्तु जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि चाहे यह कार्य कठिन है, परन्तु फिर भी मन को वश में करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये, दुष्कर कहकर इस कार्य से पिंड नहीं छुड़ाना चाहिये। यदि आप सही ढंग से प्रयत्न करेंगे, तो आप देखेंगे कि यह कार्य उतना दुष्कर नहीं जितना कि इसके विषय में कहा गया है। यदि बड़े-बड़े शूरवीर इसे वश में नहीं कर सके, तो उसका एक ही कारण है कि उन्होंने सही ढंग से इसे वश में करने का प्रयत्न नहीं किया। अब हम इसको वश करने के सही ढंग पर विचार करेंगे। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज ने मन को वश करने के दो साधन बतलाये हैं:—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

श्रीमद्भगवद्गीता ६/३५

अर्थः—हे महाबाहो ! निस्सन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है।

किसी बिगड़े हुये मस्त हाथी को जब वश में करना होता है, तो उसके लिये दो साधन अपनाये जाते हैं। एक तो उसके पांवों में शृंखलायें डाल दी जाती हैं जिससे कि वह भाग न सके और दूसरा साधन यह अपनाया जाता है कि उसके मस्तक पर बार-बार अंकुश मारा जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि हाथी अपनी सारी मस्ती भूल जाता है और महावत के वश में हो जाता तथा उसके संकेतों पर चलने लगता है। किन्तु स्मरण

रहे कि यह कार्य एक कुशल महावत ही कर सकता है, प्रत्येक व्यक्ति नहीं।

ऐसे ही किसी बिगड़े हुये घोड़े को वश में करने के लिये भी दो साधन प्रयोग में लाये जाते हैं—एक लगाम और दूसरा चाबुक। इन दोनों के निरन्तर प्रयोग से घोड़ा अपनी सारी चौकड़ी भूल जाता है। किन्तु यह कार्य भी प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता, प्रत्युत कोई कुशल घुड़सवार ही कर सकता है।

ठीक इसी प्रकार मन को वश में करने के लिये भी भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज ने दो साधन बतलाये हैं—एक वैराग्य और दूसरा अभ्यास। वैराग्य श्रृंखला अथवा लगाम के सदृश है और अभ्यास अंकुश अथवा चाबुक के सदृश। किन्तु जैसे हाथी अथवा घोड़े को वश में करना किसी दक्ष व्यक्ति का ही कार्य है, वैसे ही मन को भी किसी दक्ष पुरुष की सहायता से ही वश में किया जा सकता है। आम लोग यही गलती करते हैं कि वे अपने आप ही मन को वश में करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु जब इस कार्य में वे सफल नहीं होते, तो फिर कहने लगते हैं कि यह कार्य अत्यन्त दुष्कर है। यदि वे आरम्भ से ही किसी दक्ष पुरुष की सहायता से वैराग्य और अभ्यास द्वारा इसे वश में करने का प्रयत्न करें, तो फिर कोई कारण नहीं कि उन्हें इस कार्य में सफलता न मिले। वे दक्ष पुरुष हैं—समय के सन्त सद्गुरुदेव। उनकी सहायता से तथा उनके पथ-प्रदर्शन में वैराग्य और अभ्यास द्वारा सुगमता से मन को वश में किया जा सकता है। सन्तों का कथन भी है:—

॥ शेअर ॥

हेच नकुशद नफ़्स रा जुज़ ज़िल्ले पीर ।
दामने आं नफ़्स-कुश रा सख़्तगीर ॥

अर्थ:—मनुष्य के उच्छृंखल मन को पूर्ण सद्गुरु की चरण-शरण ग्रहण किये बिना किसी वस्तु से नहीं कुचला जा सकता। इसलिये ऐ मनुष्य ! तू इस मन को कुचलने वाले का दामन दृढ़ता से पकड़ ले।

अब हम वैराग्य और अभ्यास के स्वरूप पर विचार करेंगे। वैराग्य का वास्तविक अर्थ है—सांसारिक कामनाओं तथा विषयभोगों का चित्त से त्याग करना। जब संसार के पदार्थों तथा विषयभोगों का चित्त से त्याग कर दिया जाता है, तो फिर मन उनकी ओर भागने नहीं पाता। हाथी और घोड़े को मन-माने मार्ग पर भागने से रोकने के लिये जो कार्य शृंखलायें और लगाम करते हैं, वही कार्य मन को रोकने के लिये वैराग्य करता है। वैराग्य मन की विषयाभिमुखी गति को रोकने वाला बांध है।

अभ्यास—इसका अर्थ सद्गुरु द्वारा बताई गई विधि अनुसार सद्गुरु-शब्द का अभ्यास करना है। सद्गुरु का शब्द अंकुश के समान है जिसके सम्मुख मन अपना सारा बल हार जाता है और एक सिधाये हुए हाथी की तरह पूर्णतः आज्ञाकारी बन जाता है। सत्पुरुषों का फ़रमान है:—

मनु मैगलु गुर सबदि वसि आइआ राम ॥

गुरुबाणी

सत्पुरुष फ़रमाते हैं कि मन रूपी हाथी सद्गुरु के शब्द द्वारा ही वश में आया है।

सद्गुरु की कृपा से जब मन वश में हो जाता है, तो फिर स्वाभाविक ही वह सांसारिक पदार्थों और विषयभोगों की ओर भागना छोड़कर शान्त एवं स्थिर हो जाता है। मन की चंचलता ही दुःख और अशान्ति का मूल है। जब वह मिट जाती है, तो फिर दुःख और अशान्ति भी मिट जाती है, फलस्वरूप मनुष्य का जीवन सुख एवं शान्ति से भरपूर हो जाता है।
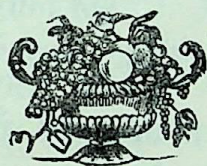
भक्त नरसी जी की हुण्डी

॥ दोहा ॥

कथा सुनाता हूँ तुम्हें, सुनो लगाकर ध्यान ।
नरसी जी की भक्ति की, महिमा सुनो महान ॥

फैला उनकी भक्ति का, सुन्दर यश चहुँ ओर ।
सुन सुन दुष्टों के हृदय, पुनि पुनि उठत मरोर ॥

जिय में निसिबासर जरत, पुनि नित करत प्रपंच ।
नरसी सों बांधव निलज, राखत प्रेम न रंच ॥

बांधवजन के बैर की, बरनत हौं इक बात ।
जूनागढ़ में एक दिन, आई साधु जमात ॥

लोगन सों पूछयो इहां, का कहुँ साहु आहिं ।
जाकी हुण्डी चलि सकत, पुरी द्वारिका माहिं ॥

जरे भुने जे बंधुजन, लै नरसी कौ नाम ।
दीन्हौं तिन्हैं बताइ द्रुत, ताकौ पता तमाम ॥

पुनः स्तुति कीन्हों बहुत, बहुबिधि बात बनाय ।
अधोलिखित पाटी दई, परिजन अधम पढ़ाय ॥

नरसी जौ मानै नहीं, करै साफ इनकार ।
तौ पग ताके पकरि कै, विनवहु बारम्बार ॥

सीधे सादे साधु सब, जानि सके नहिं चाल ।
जहँ नरसी की झोंपरी, आये तहां उताल ॥

'जै नरसी की' साधु जन, सब बोले इक साथ ।
नरसी तिन्हैं निहारि कै, उठ्यो जोरि दुई हाथ ॥

बोल्यो नरसी विनय तें, अहोभाग मम आज ।
कुटिया को पावन करी, सहृदय सन्त समाज ॥

स्वारथ बस आये सकल, साधु कह्यो हे साह ।
बढ़ै भाग तेरौ बहुत, लाखन को ह्वै लाह ॥

यों कह खीसे खोलि सब, खाली कीन्ह नितन्त ।
नरसी ढिग ढेरी करत, गिन-गिन रुपया सन्त ॥

क्या बात नरसी कह्यो, कृपया देहु बताय ।
करे जात हो ढेर क्यों, गिन-गिन मो ढिग लाय ॥

कै गुलाम घनश्याम कौ, कै हरि भगत गुलाम ।
हौं गुलाम नहिं दाम कौ, देहु मोहि क्यों दाम ॥

दाम न मोकों चाहिए, हौं हरि दामनगीर ।
गिनूँ ब्याल सम दाम कों, जम की दृढ़ जंजीर ॥

राम विमुख रखि रात दिन, हिय उपजात हराम ।
भगत न चाहत दाम सों, भगतन चाहत दाम ॥

साधु कह्यौ हम नाम सुनि, आये तुम्हरे पास ।
हुण्डी लिखवानी हमें, यही काम है खास ॥

हमैं जावनौ द्वारिका, हम सब साधू सन्त ॥
कोऊ मग में लूटि कै, करिहै सब को अंत ॥

यातें रुपया सात सौ, हम लोगन सौं लेहु ।
अरे सेठ एहसान करि, हम को हुण्डी देहु ॥

सुन सम्बोधन सेठ का, नरसी जोरे हाथ ।
बोल्यो मैं तौ दास हूँ, सेठ द्वारिकानाथ ॥

हंसी करत क्यों संत हौ, मोकों सेठ पुकार ।
कौन कह्यो या दीन कै, हुण्डी कौ व्यौपार ॥

घास फूस की झोंपरी, नहीं पास में दाम ।
देवे को तँबी इहाँ, लेवे को हरिनाम ॥

अरे संतजन आपको, कौन दियो भरमाय ।
कीन्ह मसखरी कौन यह, दीजै मोहिं बताय ॥

अरे भगत हम साधुजन, कौन हमें भरमाय ।
तू भरमावत क्यों वृथा, बीसों बात बनाय ॥

कहा बतावत यूँ कुटी, तूँबा हमैं तमाम ।
ये तो प्यारे प्रिय हमें, इन्हीं सों है काम ॥

साँचे ज्ञानी होत सो, सरल रहत जिमि साध ।
वैभव तें बौरात ना, उर के होत अगाध ॥

तू ज्ञानी ध्यानी परम, दानी सेठ लखात ।
तौ सानी कोउ और ना, जानी हम यह बात ॥

तू तो रुपया लेइ कै, लिखि दै हुण्डी साह ।
पटिहै कै पटिहै नहीं, याकी ना परवाह ॥

नरसी जान्यो बन्धुजन, चाली कै तौ चाल ।
कै भगवंत कीन्ही कृपा, भेज्यो खर्च दयाल ॥

यूँ विचार नरसी भगत, सुमिर इष्ट घनश्याम ।
हुण्डी लिख निज हाथ सों, सौंपी दे सरनाम ॥

कह्यो नाम है सेठ को, सांवलसाह प्रसिद्ध ।
प्रभु कृपा से आपके, होइहैं कारज सिद्ध ॥

हुण्डी हाथों हाथ लै, सिद्धि करी सब सन्त ।
पुरी द्वारिका पहुँचि कै, रुक्यो जाय इकंत ॥

कियो तहां बिसराम कछु, खानो पीनो खाय ।
ढूंढन लागे साह को, तब बाजार में जाय ॥

लाग्यो पतो न लेसहु, होय साधु हैरान ।
सब ही आये साँझ कौं, थाकि आपुने थान ॥

बैठे सोच बिचार में, सब ही होय उदास ।
साह रूप धरि सांवरौ, प्रगटि पधारयौ पास ॥

॥ कवित्त ॥

माथे पै लपेटि राखी अटपट पाग मोटी,
खुलि खुलि जाति चोटी फहरत न्यारी है ।
खिसकि खिसकि परी एड़िन लौं धोती जात,
घिसी आति अंगरखी घेरघारवारी है ।

कटि कैं लपेटि राख्यौ लांबौ सों दुपट्टो और,
पेट राख्यो काढ़ि कछु चाह कै अगारी है ।
कान पै कलम बही बगल दबाये साह,
कांधे धरी धम्म से सुथैली आन डारी है ॥

॥ दोहा ॥

संतन सौं आय सेठ जी, पूछयो बोलि प्रनाम ।
हुण्डी आप लाए इहां, नरसी की मो नाम ॥

यह सुनि साधुन के तुरत, आये तन में प्रान ।
बोलि उठे चट उचकि कै, हम लाये श्रीमान ॥

हारे हम तौ हेरि कै, सकल द्वारिका माहिं ।
पर हमको तौ आपकौ, पता लग्यौ कहुँ नाहिं ॥

आप छुपे रुस्तम अहो, नरसी सेठ समान ।
जगत सेठ से जचत हो, का हम करैं बखान ॥

साधुन की सुध लेइ कै, कियौ अमित उपकार ।
घर घर होवे आप की, जग में जय जयकार ॥

दै असीस हुण्डी दई, साधूजन संभलाय ।
साह बाँचि तिहि सात सौ, रुपया दिये गिनाय ॥

थैली को मुख बांधि कै, करि लेखे कौ काम ।
पत्र लिख्यो तब प्रेम सों, नरसी जी के नाम ॥

॥ कवित्त ॥

सिद्धि सिरी जूनागढ़ साह सिरताज सिरी,
भक्तराज नरसी सौं जै जै नरसी की है ।
कुसल इहाँ पै सब आपकी कुशलता,
संतन सों जानी सब बात तहाँ नीकी है ।

हुण्डी के रुपैया रोक सात सौ चुकाइ दीन्हे,
खोटी नाहिं कीन्ही ना लगाई बात फीकी है ।
जानि के गुमासता जरूर याद कीजौ हमें,
कामकाज लिखियो दुकान आप ही की है ॥

॥ दोहा ॥

यों चिठी लिखि चाव से, सौंपी साह सुजान ।
माफी सब सों माँगि कै, लीन्ही विदा निदान ॥

साधु लोग कर जातरा, पहुँचे नरसी पास ।
सौंपी चिठी साह की, हिय दरसाय हुलास ॥

पढ़ि कागद अति प्रेम सों, नरसी गद्गद होय ।
समाचार पूछा सकल, संतन कह्या सोय ॥

सुनि सुनि के नरसी भगत, भयो मगन मन माहिं ।
कछु न जतायो आँख से, होठ हिलायो नाहिं ॥

संतन के रुपया सकल, संतन काज लगाय ।
भयो उऋण नरसी भगत, कृपा कीन्हि जदुराय ॥

अपकार का बदला उपकार

सन्तों की महिमा का बखान करते हुये काकभुशुण्डि जी गरुड़ जी के प्रति कथन करते हैं कि:—

॥ चौपाई ॥

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया ॥

श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड

अर्थः—हे पक्षीराज ! सन्तों का यह सहज स्वभाव होता है कि वे मन, वचन और कर्म से सदा परोपकार ही करते हैं।

सन्तों का इस धराधाम पर अवतरण ही जीवों के कल्याण के लिये होता है। यही कारण है कि वे सदैव जीवों के भले की ही सोचते और उनके कल्याण के लिये ही कार्य करते हैं। यदि कोई उनके साथ असद् व्यवहार भी करता है, तो उस बुराई करने वाले का भी वे सदा भला ही करते तथा उसे सन्मार्ग पर लगाने का ही प्रयत्न करते हैं। शिवजी पार्वती जी के प्रति कथन करते हैं:—

॥ चौपाई ॥

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइँ भलाई ॥

श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड

अर्थः— हे उमा ! सन्तों की यही बड़ाई (अर्थात् महानता)

है कि वे बुराई करने पर भी बुराई करने वाले की भलाई ही करते हैं।

इस विषय में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त समर्थ स्वामी श्री राम दास जी के जीवन की एक घटना अविस्मरणीय, शिक्षाप्रद तथा अनुकरणीय है।

समर्थ स्वामी श्री रामदास जी अपना सारा समय या तो प्रभु की सेवा-पूजा तथा भजन-सुमिरण में व्यतीत करते थे या जन-कल्याण में। यद्यपि छत्रपति शिवाजी तथा अन्य अनेकों ही धनाढ्य व्यक्ति उनके शिष्य थे, फिर भी वे अपना जीवन-निर्वाह भिक्षाटन से करते थे। वे दिन में केवल एक बार एक ही घर से भिक्षा मांगते थे और जो कुछ भी वहां से प्राप्त हो जाता, उसी पर सन्तोष करते थे। एक दिन एक घर के सामने रुककर उन्होंने ज़ोर से आवाज़ लगाई—जय-जय रघुवीर समर्थ।

उस समय घर पर केवल गृहस्वामिनी ही उपस्थित थी और मिट्टी से चौका लीप रही थी। कुछ समय पूर्व ही उसका किसी बात पर अपने पति से झगड़ा हुआ था, इसलिये वह जली-भुनी बैठी थी। श्री समर्थ स्वामी जी की आवाज़ सुनकर वह और अधिक क्रोधित हो उठी। उसने हाथ में उस समय चौका लीपने का मिट्टी से सना पोतना पकड़ रखा था। उसे लिये वह तेज़ी से बाहर आई। उसने वह पोतना समर्थ स्वामी जी पर दे मारा और झल्ला कर बोली—यह लो भिक्षा।

श्री समर्थ स्वामी जी उसके असद् व्यवहार से तनिक भी क्रोधित

न हुये और होते भी कैसे ? क्योंकि वे तो एक सच्चे सन्त थे। सच्चे सन्तों की यही तो महानता होती है कि कोई चाहे उनके साथ कितना ही गलत व्यवहार क्यों न करे, वे अपने सद्गुणों को नहीं त्यागते, जैसा कि सत्पुरुषों का कथन है:—

॥ दोहा ॥

संत न छोड़ैं संतई, कोटिक मिलैं असंत ।
मलय भुवंगम बेधिया, सीतलता न तजंत ॥

परमसन्त श्री कबीर साहिब

अर्थः—जिस प्रकार सर्पों के विष उगलने पर भी चन्दन का वृक्ष अपने शीतलता के गुण को नहीं त्यागता, उसी प्रकार सन्त भी कभी अपने गुणों का त्याग नहीं करते चाहे उन्हें करोड़ों ही असन्त क्यों न मिलें।

सन्तों की महिमा करते हुये भगवान् श्री रामचन्द्र जी महाराज भरत जी के प्रति कथन करते हैं कि:—

॥ चौपाई ॥

संत असंतन्हि कै असि करनी ।
जिमि कुठार चंदन आचरनी ॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई ।
निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥

श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड

अर्थः—सन्तों और असन्तों की करनी ऐसी है जैसे चन्दन और कुल्हाड़ी का आचरण होता है। हे भाई, सुनो ! कुल्हाड़ी

चन्दन को काटती है, परन्तु चन्दन अपने स्वभाववश अपना गुण देकर उसे सुगन्ध से सुवासित कर देता है। अभिप्राय यह कि सन्त भी बुराई के बदले सदा भलाई ही करते हैं।

श्री समर्थ स्वामी जी ने गृहस्वामिनी की वह अनोखी भिक्षा सहर्ष स्वीकार की और उसे आशीर्वाद दिया—भगवान् तुम्हें सद्बुद्धि प्रदान करें और तुम्हारा कल्याण करें।

वहां से चलकर वे सीधे नदी पर गये और मिट्टी से सने उस पोतने को धोकर खूब अच्छी तरह स्वच्छ-निर्मल किया और आश्रम पर जाकर उसे सूखने के लिये डाल दिया। सूखने पर उन्होंने उस वस्त्र की बत्तियाँ बनाईं। भगवान् की आरति में उस दिन रुई की बत्तियों के स्थान पर उन्होंने उस वस्त्र से बनाई गई बत्तियों का प्रयोग किया। आरति के पश्चात् उन्होंने श्री भगवान् के चरणों में प्रार्थना की—प्रभो ! जैसे इन बत्तियों के प्रकाश से इस कमरे का अन्धकार दूर हुआ है, वैसे ही आपकी कृपा से यह वस्त्र प्रदान करने वाली देवी के हृदय का अन्धकार भी दूर हो जाये और उसका हृदय ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हो जाये।

सच्चे सन्त भगवान् से प्रार्थना करें और वह स्वीकार न हो, यह तो हो ही नहीं सकता। फिर क्या था ? इधर श्री समर्थ स्वामी जी ने उस स्त्री के कल्याण एवं सुधार के निमित्त प्रार्थना की, उधर उसका हृदय ज्ञान के विमल प्रकाश से आलोकित हो गया। फलस्वरूप श्री समर्थ स्वामी जी के साथ किये हुये असद् व्यवहार को स्मरण कर वह रात भर पश्चात्ताप के अश्रु बहाती

रही। पश्चात्ताप के उन अश्रुओं ने उसके मन की समस्त कलुषिता धो डाली।

दूसरे दिन श्री समर्थ स्वामी जी के चरणों में उपस्थित हो कर उसने अपने कृत्य के लिये क्षमायाचना की और भक्ति का वरदान मांगा। श्री समर्थ स्वामी जी ने उसे नामोपदेश देकर कृतार्थ किया। नाम के प्रताप से उसका जीवन संवर गया।

ऐसा होता है सन्तों का स्वभाव कि वे अपकार के बदले भी सदैव उपकार ही करते हैं। हमारा भी कर्त्तव्य है कि इस कथा से शिक्षा ग्रहण करते हुये सच्चे अर्थों में गुरुमुख बनें और सदा सबके साथ भलाई ही करें। इसी में हमारा कल्याण है।

तमन्ना

जी भर आये तेरे १तसव्वर से ।
ज़ब्त भी मैं करूँ तो हो न सके ॥
होश अपना मुझे ज़रा न रहे ।
होश क्या कुछ तेरे सिवा न रहे ॥
इस कदर २महवियत बढ़े मेरी ।
भूल जाये मुझे मेरी हस्ती ॥
डूब जाऊँ सरूर में तेरे ।
और पहुँचूँ हुज़ूर में तेरे ॥
तेरे जल्वे का होते ही दीदार ।
मुझमें जो कुछ है वह तुझ पे निसार ॥
३वस्ल हो जाये यूँ तेरा हासिल ।
हो ४फ़ना से मुझे ५बक़ा हासिल ॥
६या इलाही हो ७बाअसर यह ८दुआ ।
'राद' की ९मुस्तजाब कर यह दुआ ॥

१–ध्यान २–तल्लीनता ३–मिलन ४–नश्वरता ५–अनश्वरता
६–हे परमेश्वर ७–प्रभावशाली ८–प्रार्थना ९–स्वीकृत

जिज्ञासु का कर्त्तव्य

लंका का राजा रावण वेदों-शास्त्रों का ज्ञाता और अपने समय का महान् नीतिज्ञ था। जब वह युद्धभूमि में मरणासन्न अवस्था में पड़ा हुआ अन्तिम स्वांस गिन रहा था, भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी को अपने निकट बुलाकर फ़रमाया—रावण नीतिशास्त्र का महान् ज्ञाता था, अतएव उसके पास जाओ और नीतिविषयक ज्ञान प्राप्त करो।

लक्ष्मण जी रावण के निकट गये और उसके सिर की ओर खड़े होकर बोले—रावण! मैं श्रीरामचन्द्र जी का भाई लक्ष्मण तुमसे नीतिशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने आया हूँ। मुझे कुछ इस विषय में बताओ।

रावण ने आंखें खोलीं, लक्ष्मण को देखा और पुनः आंखें बन्द कर लीं। लक्ष्मण जी ने दो-तीन बार अपनी बात दोहराई, परन्तु रावण ने उत्तर तो क्या देना था, उनकी ओर देखा भी नहीं। लक्ष्मण जी निराश होकर वापस लौट आये।

भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने पूछा—रावण ने कुछ उपदेश किया?

लक्ष्मण जी बोले—वह बड़ा अहंकारी है। यद्यपि मरने के निकट है, परन्तु अभी भी अहंकार को उसने नहीं त्यागा। दो-

तीन बार कहने पर भी उसने मेरी बात का कोई उत्तर नहीं दिया।

भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने फ़रमाया—तुम उसके पास कैसे गये और किस प्रकार तुमने अपनी जिज्ञासा उसके समक्ष रखी, सो सब हमें बताओ।

तब लक्ष्मण जी ने अपने जाने का सम्पूर्ण वृत्तांत उनके चरणों में निवेदन किया। सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्र जी, जो स्वयं नीति-निधान थे, बोले—लक्ष्मण! गलती तुम्हारी है। तुम जिज्ञासु बनकर रावण के पास ज्ञान प्राप्त करने गये थे, परन्तु यह पूरी तरह भूल गये कि जिज्ञासु का कर्त्तव्य क्या है? नीति अनुसार तुम्हारा धर्म यह था कि उसके चरणों की ओर खड़े होकर नम्रतापूर्वक पूछते। जाओ! अब ऐसा करके देखो।

लक्ष्मण जी पुनः वहां गये, जहां रावण मरणासन्न अवस्था में पड़ा था और उसके पांव की ओर खड़े होकर तथा हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक बोले—मैं श्रीरामचन्द्र जी का लघु भ्राता आपको प्रणाम करता हूँ। मुझे नीतिशास्त्र का कुछ ज्ञान दीजिये।

रावण ने आंखें खोलीं, संकेत से लक्ष्मण को अपने निकट बैठने को कहा और उसे नीतिशास्त्र के विषय में उपदेश दिया।

अभिप्राय यह कि जब कोई मनुष्य किसी के पास ज्ञान-प्राप्ति की अभिलाषा से जाता है, तो उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उसका पूरी तरह सम्मान करे। उसके समक्ष हाथ जोड़कर खड़ा हो और अत्यन्त नम्रतापूर्वक अपनी जिज्ञासा उसके सम्मुख प्रस्तुत करे। इसी पर एक अन्य कथा है:—

प्राचीन समय की बात है। एक बार कुछ ऋषि-पुत्र एकत्र होकर आत्मा के विषय में विचार करने लगे, परन्तु कई दिनों तक विचारों का आदान-प्रदान करने के उपरांत भी वे किसी निश्चय पर न पहुँच पाए। अन्ततः आपस में परामर्श कर वे महर्षि उद्दालक के पास गए और उनके सामने अपनी समस्या प्रस्तुत कर कहने लगे—कई दिनों तक विचार करने के उपरान्त भी आत्मा के विषय में हम कुछ निश्चित नहीं कर पाए, इसीलिए आपके पास आए हैं। आप तत्त्ववेत्ता ब्रह्मर्षि हैं, इसलिए हमें आत्मज्ञान का उपदेश कीजिए।

महर्षि उद्दालक ने सोचा कि ये सच्चे जिज्ञासु तो अवश्य हैं, परन्तु इस बात से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं कि जिज्ञासु को किसी महापुरुष के पास किस प्रकार जाना चाहिए, अतः कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि इनकी जिज्ञासा पूर्ण होने के साथ-साथ इन्हें जिज्ञासु के धर्म का भी कुछ ज्ञान हो जाए। उन्होंने इन्हें राजर्षि अश्वपति के पास भेजने का विचार कर कहा—आत्मा का ठीक-ठीक बोध तो राजर्षि अश्वपति को ही है। वे इस समय के महान् तत्त्ववेत्ता हैं, इसलिए आत्मा का निश्चय तो वे ही करा सकते हैं। चलो! उनके पास चलें।

महर्षि उद्दालक उन सबको लेकर महाराज अश्वपति के पास गए। उन्हें देखकर महाराज अश्वपति अत्यन्त हर्षित हुए। उन्होंने सबका हार्दिक आदर-सत्कार किया। भारतीय संस्कृति में अतिथि-सत्कार को बड़ा महत्त्व प्रदान किया गया है, विशेषकर जब ऋषि-मुनि तथा साधु-सन्त पधारें तो इसकी महत्ता और भी अधिक बढ़ जाती है।

महाराज अश्वपति ने यथाविधि सबके चरण धोए और उन्हें सुन्दर एवं स्वच्छ आसनों पर विराजमान कराया। फिर चन्दन, माला तथा पुष्प आदि से उनका विधिवत पूजन किया। तत्पश्चात् उनके सम्मुख नाना प्रकार के स्वादिष्ट एवं सात्विक भोज्य-पदार्थ स्वर्ण के थालों में परोसकर प्रस्तुत किये तथा दक्षिणा के रूप में स्वर्ण-मुद्रायें भी अर्पित कीं। किन्तु ऋषि-पुत्रों ने भोजन को भी हाथ न लगाया और धन लेना भी अस्वीकार कर दिया, क्योंकि वे धन-पदार्थों के लिये तो महाराज अश्वपति के पास नहीं आये थे; वे सभी तो आत्मज्ञान की प्राप्ति की जिज्ञासा लेकर ही वहाँ पहुँचे थे।

ज्ञानी अश्वपति को उनके व्यवहार से तनिक भी आश्चर्य न हुआ। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—मैं जानता हूँ कि शास्त्रों में राजा के अन्न को अपवित्र बतलाया गया है, क्योंकि कर आदि द्वारा प्राप्त धन के अतिरिक्त राजकोष में उस धन का भी संग्रह होता है, जो चोरों, डाकुओं तथा अनाचारियों से अर्थदण्ड के रूप में प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार पापियों का धन राजकोष में आ जाने से वह अपवित्र हो जाता है। किन्तु आप लोग विश्वास करें कि मेरे राज्य में न तो कोई चोर है, न मद्यप और न ही अनाचारी। इसके अतिरिक्त मेरे राज्य में किसी से अन्यायपूर्वक कर भी नहीं लिया जाता। शास्त्रों में राजा का जो भाग निश्चित है, प्रजाजन स्वयं ही अपनी आय का वह निश्चित भाग राजकोष में जमा करा जाते हैं। इस प्रकार मेरा धन तथा अन्न निर्दोष है, इसलिए आप सब भोजन ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करें।

ऋषि-पुत्रों ने उत्तर दिया—राजन् ! हम इस बात से भली-भाँति अभिज्ञ हैं कि आपका धन–अन्न दोनों ही पवित्र हैं और आप हम लोगों का हृदय से सत्कार कर रहे हैं। किन्तु हे राजन् ! मनुष्य का वास्तविक सत्कार यही होता है कि वह जिस प्रयोजन को लेकर आया है, उसका वह प्रयोजन पूरा हो जाये। हम आपके पास धन की इच्छा लेकर नहीं आये, प्रत्युत आत्मविषयक ज्ञान प्राप्त करने आये हैं। आप आत्मज्ञान का उपदेश देकर हमारी अभिलाषा पूर्ण करें।

महाराज अश्वपति उनकी बात सुनकर हंस पड़े और बोले—आप सब थके हुये हैं, इसलिए आज तो आप सब भोजन करके विश्राम करें, कल आपकी इस बात पर विचार करूंगा।

ऋषि–पुत्रों ने भोजन किया, तत्पश्चात् अतिथिशाला में एकत्र होकर आपस में वार्त्तालाप करने लगे कि महाराज हमारी बात पर हंसे क्यों ? उन्होंने हमें आज ही आत्मज्ञान का उपदेश क्यों न किया ? उन्होंने कल भी उत्तर देने का कोई निश्चित आश्वासन नहीं दिया। उन्होंने यही कहा कि कल आपकी बात पर विचार करूंगा। भला ऐसा क्यों ? महाराज अश्वपति के उक्त व्यवहार पर उन्हें बड़ा खेद हो रहा था।

महर्षि उद्दालक जी बड़ी देर से उनकी बातें सुन रहे थे, अन्ततः बोल उठे—अविधिपूर्वक प्रश्न करके आप सब उत्तर की आशा कैसे रख सकते हैं ?

सभी विस्मित होकर बोले—अविधिपूर्वक कैसे ?

महर्षि उद्दालक बोले—आप सब जिज्ञासु हैं और ज्ञान की प्राप्ति हेतु ही यहां आए हैं। फिर क्या आप लोगों का उच्च आसनों पर बैठकर महाराज अश्वपति से पूजा करवाना नीतियुक्त है ? ज्ञान की प्राप्ति इस प्रकार कदापि नहीं होती। नियम तो यह है कि जिज्ञासु नीचा होकर बैठे और नम्रतापूर्वक प्रश्न करे। जल के समान ज्ञान की गति भी नीचे की ओर होती है, इसलिए जो झुकेगा, जो विनम्र होगा, ज्ञान उसी की ओर जाएगा। आपने इस नियम का पालन नहीं किया, अविधिपूर्वक उनके समक्ष ज्ञानप्राप्ति की जिज्ञासा रखी, इसीलिए महाराज आप लोगों की बात सुनकर हंसे और इसीलिए उन्होंने आपको निश्चित आश्वासन नहीं दिया।

सभी ने अपनी भूल स्वीकार की। दूसरे दिन वे बड़े विनम्र भाव से महाराज अश्वपति के सम्मुख गए और आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु उनसे प्रार्थना की। तब महाराज अश्वपति ने उन्हें आत्मज्ञान का उपदेश दिया, जिससे वे कृतकृत्य हो गए।

उपरोक्त कथा से शिक्षा ग्रहणकर हमें भी यह बात पूरी तरह हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि हम जब भी महापुरुषों के पास किसी जिज्ञासा की पूर्ति हेतु अथवा आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु जायें, तो दीनता और नम्रता धारण करके जायें। तभी हम सच्चे अधिकारी बन सकते और ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं।

उपदेश

स्वरः—तू नाम सुमिर प्रभु का प्राणी......॥

टेकः—सतगुरु के सदुपदेशों पर,
यदि अपना शीश चढ़ायेगा ।
यह मानुष-तन तेरा प्यारे,
निश्चय ही सफल हो जायेगा ॥

१-तू मान कहा सत्पुरुषों का,
जो निचोड़ है सारे ग्रन्थों का ।
तू बन कर के गुरुमुख सच्चा,
दुनिया में अमर हो जायेगा ॥

२-जो सतगुरु शरण में आते हैं,
और नाम से प्रीत लगाते हैं ।
वे यम के द्वार न जाते हैं,
उन्हें काल कभी न खायेगा ॥

३-सदा सत्पुरुषों की संगत कर,
और वचन उन्हीं के हिरदय धर ।
तू उनकी निसदिन सेवा कर,
तेरा जन्म संवर यह जायेगा ॥

४-प्रभु-नाम का पल-पल सुमिरण कर,
और प्रभु को बसा कर मन-मन्दिर ।
गुरु आज्ञा-मौज में तू चल कर,
ऐ 'दास' परम पद पाएगा ॥

निष्काम कर्म करो

देवर्षि नारद जी भक्तिसूत्र में कथन करते हैं कि:—

न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः
किंतु फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव ।

सूत्र ६२

अर्थ:—जब तक प्रेमस्वरूपाभक्ति में सिद्धि न मिले, तब तक लोक-व्यवहार अर्थात् लौकिक कर्त्तव्यकर्मों का त्याग कदापि नहीं करना चाहिये, अपितु फल की भावना का त्याग कर निष्कामभाव से उसे भक्ति के साधनों में संलग्न रहना चाहिए

प्रेमस्वरूपाभक्ति की उच्च अवस्था का वर्णन करते हुए सन्त कथन करते हैं कि:—

॥ दोहा ॥

जभी भक्त भक्ति करत, इष्ट रूप ह्वै जाहि ।
पूरी जानो भक्ति तब, या में संसय नाहि

सन्तवाणी

भक्ति-पथ पर चलने वाले साधक को जब साधना करते-करते प्रेमस्वरूपा भक्ति की उच्च स्थिति प्राप्त हो जाती है अर्थात् वह उस स्थिति में पहुँच जाता है, जब भक्त भक्ति करते-करते स्वयं को इष्टदेव में लय कर देता है, तो उस उच्च अवस्था को तो बात

ही निराली है, क्योंकि उस उच्च अवस्था में लौकिक कर्म तो स्वयमेव ही छूट जाते हैं, साथ ही संसार तथा शास्त्रों की मर्यादा का भी उस पर कोई बन्धन नहीं रहता, क्योंकि इष्टदेव के प्रेम में पूर्णतया लय हो जाने पर जबकि साधक स्वयं ही प्रेमरूप बन जाता है, तो फिर उसके द्वारा होने वाले सब कर्म भी प्रेममय बन जाते हैं, वहां विधि-नियम के बन्धन का प्रश्न ही कहां रहता है ? सत्पुरुषों का कथन भी है:—

॥ दोहा ॥

जहँ प्रेम तहँ नेम नहिं, तहाँ न बुधि ब्यौहार ।
प्रेम मगन जब मन भया, तब कौन गिनै तिथि वार ॥

परमसन्त श्री कबीर साहिब

कन्तु जब तक साधक प्रेमस्वरूपाभक्ति की इस उच्च अवस्था को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक साधक को चाहिये कि वह नीति-मर्यादा अनुसार आवश्यक कर्त्तव्य-कर्मों का पालन अवश्य करे। जो साधक जानबूझ कर नीति—मर्यादानुसार कर्त्तव्यकर्मों का पालन नहीं करता, वह अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि नीति—मर्यादानुसार कर्म न करने से उसके पथभ्रष्ट होने का संशय बना रहता है।

इसीलिये देवर्षि नारद जी का कथन है कि साधक को नीति-मर्यादानुसार सभी लौकिक कर्त्तव्य—कर्म तो अवश्य करते रहना चाहिये, परन्तु उन कर्मों में उसकी आसक्ति नहीं होनी चाहिये अर्थात् उन कर्मों के फल की इच्छा उसके मन में नहीं होनी चाहिये। उसको अपना प्रत्येक कर्म निष्कामभावना से करना चाहिए।

ऐसा करने से मनुष्य कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है और एक दिन प्रेमस्वरूपाभक्ति की उच्च अवस्था को प्राप्त करने में भी सफल हो जाता है। इसे ही सन्तों सत्पुरुषों ने निष्काम भक्ति कहा है।

देवर्षि नारदजी ने प्रेम-भक्ति के मार्ग पर अग्रसर होने वाले साधक के लिये जो लौकिक कर्त्तव्यकर्मों को नीति-मर्यादानुसार करना आवश्यक बतलाया है और इन कर्त्तव्यकर्मों को करते हुये फलासक्ति का त्याग करने पर जो बल दिया है, उससे उनके दो अभिप्राय हैं:—

(१) कोई झूठमूठ प्रेम का ढोंग रचाकर तथा नीति-मर्यादा को छोड़कर अनुचित कार्यों में प्रवृत्त न हो तथा

(२) जो सच्चा साधक है, वह निष्कामभाव से कर्म करके कर्म-बन्धन से मुक्त रहे।

जब साधक को प्रेम-भक्ति की उच्च अवस्था प्राप्त हो जाती है, उस अवस्था में चूँकि वह प्रेम के सांचे में ढल चुका होता है, अतः उस समय वह जो भी कर्म करता है, वे सब प्रेम का ही रूप होते हैं। उस अवस्था में उसका प्रत्येक कर्म यहां तक कि खाना-पीना, उठना-बैठना तथा सोना-जागना भी प्रेम-भक्ति के रंग में रंगा हुआ होता है। ऐसी उच्च अवस्था प्राप्त कर लेने वाला साधक चूँकि इष्टदेव प्रियतम के प्रेम में पूरी तरह लय हो चुका होता है, इसलिये वह जो भी कर्म करता है, उसमें उसकी कोई कामना निहित नहीं होती। वह जो भी कर्म करता है, निष्काम-भाव से करता है। इसलिये वह सब कर्म करते हुये भी वास्तव

में कुछ नहीं करता। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज फ़रमाते हैं किः—

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥

श्रीमद्भगवद्गीता ४/२०

अर्थः—जो साधक समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्यतृप्त है, वह कर्मों में भलीभाँति वर्तता हुआ भी वास्तव में कुछ नहीं करता।

कारण इसका यह है कि प्रेमस्वरूपाभक्ति की उच्चावस्था को प्राप्त साधक चूँकि अपने प्रियतम के प्रेम में पूरी तरह लय हो चुका होता है, इसलिये वह जो कर्म भी करता है, इष्टदेव प्रियतम की इच्छानुसार ही करता है। ऐसे साधक को न तो कर्म बाँध सकते हैं और न ही कर्मफल का नियम उसपर लागू होता है।

किन्तु जब तक साधक इस अवस्था को प्राप्त न कर ले, तब तक नीति-मर्यादानुसार लौकिक कर्त्तव्यकर्मों का पालन करना अत्यावश्यक है। कर्म तो प्रत्येक मनुष्य को करने ही हैं। कर्म किये बिना तो कोई एक पल भी नहीं रह सकता, जैसा कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज का कथन हैः—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

श्रीमद्भगवद्गीता ३/५

अर्थः—कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृति-जनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिये बाध्य है।

कर्म तो मनुष्य को प्रत्येक दशा में करने ही हैं, परन्तु उसे यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि निष्कामभावना से किए गए कर्मों तथा सकाम भावना से किए गए कर्मों में बहुत अन्तर है। सकाम कर्म चाहे शुभ हों अथवा अशुभ, उनका फल मनुष्य को अवश्य भोगना पड़ता है। अशुभ कर्मों के फलस्वरूप यदि उसे नरकादि की प्राप्ति होती है, तो शुभकर्मों के करने से अधिक से अधिक उसे स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है, जहां अपने कर्मों का फल भोगकर उसे पुनः मर्त्यलोक में वापस आना पड़ता है; आवागमन के बन्धन से उसका छुटकारा नहीं होता।

इससे सिद्ध हुआ कि सकाम कर्म चाहे शुभ हैं अथवा अशुभ—दोनों ही बन्धन का कारण हैं। अशुभ कर्म यदि लोहे की बेड़ी हैं तो शुभकर्म सोने की बेड़ी। किन्तु हैं दोनों बन्धनरूप ही। और यह तो निश्चित ही है कि जहां बन्धन है, वहां दुःख और अशान्ति भी अवश्य है। यही कारण है कि शुभकर्म करने वाला मनुष्य भी सकामकर्मी होने के कारण सदैव सुख-दुःख के झूले में झूलता रहता है, शाश्वत सुख-आनन्द की प्राप्ति उसे नहीं होती।

इसके विपरीत निष्काम कर्म चूँकि फल की कामना का त्याग कर के किये जाते हैं, इसलिए वे न तो बन्धन का ही हेतु होते हैं और न ही दुःख एवं अशान्ति का। इसलिये निष्काम

कर्म करने वाला मनुष्य सदैव ही नित्य आनन्द एवं परम शान्ति से भरपूर रहता है। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज का कथन है:—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
श्रीमद्भगवद्गीता ५/१२

अर्थः—कर्मयोगी कर्मों के फल का त्याग करके भगवत्प्राप्ति रूप शान्ति को प्राप्त होता है, जबकि सकाम पुरुष कामना की प्रेरणा से फल में आसक्त होकर बंधता है।

एक अन्य स्थान पर भी फ़रमाते हैं कि:—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
श्रीमद्भगवद्गीता २/७१

अर्थः—जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममता-रहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त करता है।

इसी पर एक कथा है। प्राचीन काल में दक्षिण भारत के पाण्ड्य प्रदेश के धन्वि नगर में मुकुन्द नाम के एक ब्राह्मण रहते थे, जो बड़े ही धर्मात्मा, विष्णुभक्त, शास्त्रों के ज्ञाता और सदाचारी थे। उनकी धर्मपत्नी भी उन्हीं की तरह ही भक्तिभाव से पूर्ण एवं सदाचारिणी थी। उनके कोई सन्तान नहीं थी,

अतएव यह अभाव उन्हें हर समय खटकता रहता था। अन्ततः ब्राह्मण ने सन्तान के लिए अपने इष्टदेव भगवान् विष्णु के चरणों में प्रार्थना की। भगवान् विष्णु ने स्वप्न में उन्हें पुत्र-प्राप्ति का आशीर्वाद देते हुए कहा—तुम्हारा पुत्र बड़ा ही भगवद्भक्त होगा।

समय आने पर उनके घर एक बालक का जन्म हुआ, जिसका नाम उन्होंने विष्णुचित्त रखा। बाल्यकाल से ही विष्णुचित्त का झुकाव प्रभु-भक्ति की ओर अधिक था। वे बड़े प्रेम से कथा-कीर्तन श्रवण करते, साधु-सन्तों की सेवा करते तथा माता-पिता की आज्ञा मानते। अभी उन्होंने यौवनावस्था में पग रखा ही था कि उनके माता-पिता परलोक सिधार गये।

माता-पिता के परलोक-गमन के उपरांत भक्त विष्णुचित्त नियमानुसार वेदाध्ययन, सन्ध्योपासन तथा साधु-सेवा करते रहे। साधु-सेवा तो कभी निष्फल जाती नहीं। एक बार धन्वि नगर में एक पूर्ण सन्त पधारे। भक्त विष्णुचित्त ने अत्यन्त श्रद्धा एवं प्रेम से उनकी सेवा की। उन्होंने भी भक्त विष्णुचित्त की सेवा से प्रसन्न होकर तथा उन्हें अधिकारी जानकर भक्ति का वरदान दिया।

सन्तों का आशीर्वाद प्राप्त कर भक्त विष्णुचित्त की भक्ति में चार चांद लग गये। वे प्रेम-भक्ति के रंग में पूरी तरह रंग गये। भगवान् की सेवा-पूजा और सुमिरण-ध्यान ही उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। उन्होंने अपने घर के सम्मुख एक छोटी-सी वाटिका लगा रखी थी। प्रेम में तन्मय होकर कभी वे भगवान् को अर्पित करने के लिये फूल चुनते, कभी माला

गूंथते, कभी चन्दन घिसते, कभी नैवेद्य प्रस्तुत करते, कभी आरती उतारते और कभी गुणानुवाद गायन करने लगते।

भगवान् के ध्यान, नाम-सुमिरण तथा सेवा-पूजा के अतिरिक्त अन्य कोई काम नहीं था उनका। वे हर समय इन्हीं कार्यों में संलग्न रहते। इसके अतिरिक्त न उन्हें अपने शरीर की सुधि थी और न ही संसार की।

सभी लोग प्रेम-भक्ति में ऐसी तन्मयता देखकर उनकी प्रशंसा करते और उन्हें अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखते। धीरे-धीरे उनकी भक्ति की चर्चा राजा के कानों तक जा पहुँची। सच है:—

॥ दोहा ॥

भक्ति करे पाताल में, प्रगट होय आकास।
कह कबीर तिहुँ लोक में, छिपे न हरि का दास॥

परमसन्त श्री कबीर साहिब

राजा भी बड़ा ही भगवद्भक्त एवं साधु-सेवी था, अतः भक्त विष्णुचित्त की भक्ति की प्रशंसा सुनकर उसके मन में ऐसे उच्च कोटि के भक्त के दर्शनों की लालसा जाग उठी। दूसरे दिन जब राजा दर्शनार्थ वहां पहुँचा, तो क्या देखता है कि भक्त जी हाथों से तो माला गूँथ रहे हैं और मुख से प्रभु की गुण-स्तुति गायन कर रहे हैं। राजा ने उनके निकट पहुँच कर उन्हें प्रणाम किया, परन्तु भक्त विष्णुचित्त अपने कार्य में इतने मग्न थे कि उन्हें राजा के आने का कुछ भी पता न चला। माला गूँथने के पश्चात् भक्त जी ने कुछ फूल चुने।

तदुपरांत मन्दिर में जाकर भगवान् को माला पहनाई, फूल अर्पित किये और भगवान् की आरती उतारी। फिर भोग के लिए मधुर फल भगवान् के सम्मुख प्रस्तुत किये। राजा उनकी ऐसी तन्मयता देखकर आनन्दातिरेक से पुलकित हो उठा। उसकी भक्त जी के प्रति श्रद्धा हो गई।

भगवान् को विश्राम कराने के उपरांत भक्त विष्णुचित्त जब बाहर आए, तब अकस्मात् उनकी दृष्टि राजा पर पड़ी। भक्त जी ने पूछा—आप कौन हैं ?

राजा ने हाथ जोड़कर बड़ी श्रद्धा से उन्हें प्रणाम किया और फिर नम्रतापूर्वक अपना परिचय देते हुए कुछ उपदेश करने की प्रार्थना की।

भक्त विष्णुचित्त ने देखा कि राजा संस्कारी है, अतः उन्होंने उपदेश करते हुए कहा—राजन् ! जैसे बनजारे आठ महीने देश-विदेश में व्यापार द्वारा कमाई करके चौमासे में उसे घर बैठकर खाते हैं, वैसे ही जीव के लिए मनुष्य-जन्म कमाई करने का और दूसरे सब जन्म भोगने के हैं। यदि बनजारे आठ महीने कमाई न करें, तो वर्षाऋतु में कितने दुःखी और परेशान हों। इसी प्रकार मनुष्य-जन्म में भी यदि कमाई ठीक न हो, तो दूसरे जन्मों में इसका फल दुःख और कष्ट के रूप में भोगना ही पड़ेगा। मनुष्य-जन्म में जो जीव पुण्यकर्म करते हैं, वे स्वर्गादि उत्तम लोकों में जाते हैं, जहां उन्हें देवता आदि के दिव्य शरीर और हर प्रकार के सुखभोगों के सामान मिलते हैं। इसके विपरीत पापकर्म करने वाले नरकों में जाते हैं तथा कीट-पतंग आदि शरीरों

में जन्म लेकर भयंकर कष्ट भोगते हैं। इसलिए विचारवान् मनुष्य को पापकर्म तो भूलकर भी नहीं करने चाहियें, उसे पुण्य-कर्म ही करने चाहियें। किन्तु मनुष्य-जन्म की सफलता पुण्यकर्म करने में भी नहीं है, क्योंकि पुण्यकर्मों के करने पर भी पुनः जन्म तो लेना ही पड़ता है। मनुष्य-जन्म की सफलता तो जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने में ही है और यह तभी सम्भव है जब मनुष्य निष्कामभाव से कर्त्तव्यकर्मों का पालन करते हुए परमात्मा की भजन-भक्ति करता रहे।

इसलिये राजन् ! आप भी राज्य को प्रभु की धरोहर समझकर सारा कामकाज निष्कामभावना से करते हुए उनके नाम का सुमिरण करें, उनका चिन्तन-ध्यान करें तथा उनके गुणानुवाद गाएँ। प्रभु आप पर अवश्य कृपा करेंगे।

राजा ने हृदय से उनका उपदेश ग्रहण किया। उस दिन से वह प्रत्येक कर्म निष्कामभावना से करते हुए सुमिरण-ध्यान में संलग्न रहने लगा। शनैः शनैः उसका जीवन ही पूजामय बन गया और वह हर समय प्रभु-प्रेम में पगा रहने लगा। कुछ समय के बाद भगवान् की उस पर कृपा हुई और उसे उनके साक्षात् दर्शन हुए, जिस से उसका जीवन सफल हो गया।

अभिप्राय यह कि भक्ति-पथ पर चलने वाले जिज्ञासु अथवा साधक को आसक्ति और फल की इच्छा त्यागकर सदैव निष्काम-भावना से ही कर्त्तव्यकर्मों में संलग्न रहना चाहिये। इसी से वह अपने लक्ष्य की सिद्धि अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति करने में सफल होगा। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन के प्रति कथन करते

हैं:—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता ३/१६

अर्थः—हे अर्जुन ! तू निरन्तर आसक्ति से रहित होकर निष्कामभाव से कर्त्तव्यकर्म को भलीभांति करता रह, क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

जो इस प्रकार का जीवन बना लेते हैं, वे इस जीवन में भी सदा आनन्दित रहते हैं और परमात्म-प्राप्ति कर मनुष्य-जन्म के उद्देश्य की सिद्धि भी कर लेते हैं। ऐसे भक्तों का जीवन सराहनीय भी है और अनुकरणीय भी।

हर्ष समाचार

आनन्द गीता

प्रेमी पाठकों की हार्दिक मांग को पूर्ण करने के लिए श्री परमहंस अद्वैत मत की एक नई पुस्तक 'आनन्द गीता' का प्रकाशन किया गया है, जिसमें परमार्थ भक्ति एवं रुहानियत के गूढ़ रहस्यों को सरल रूप में दर्शाया गया है। इस अनुपम उपहार को प्राप्त कर प्रेमिजन लाभान्वित हों।

उपदेश

स्वरः—कभी तेरा दामन......॥

टेकः—हमेशा तू भक्ति की राह पे चल,
मानुष जन्म को कर ले सफल ।

१–झूठे हैं जग के सब ये नज़ारे,
लगते हैं तुझको जो प्यारे-प्यारे,
समझ ले सन्तों के अब तो इशारे,
दुनिया में रहना जैसे जल में कमल ।

२–गफलत की तूने चादर है तानी,
किये जा रहा कब से तू मनमानी,
हरगिज़ सच्चाई की कदर न जानी,
मोड़ ले रुख अपना अब भी संभल ।

३–फ़क़त सतगुरु को तू अपना बनाना,
किसी और ने तेरे नहीं काम आना,
गुरु संग प्रीत की बाज़ी लगाना,
हार भी जीत में जाये बदल ।

४–नर-तन है दुर्लभ कुछ अपना बना ले,
मालिक से बिछड़ी रूह को मिला ले,
गुरु-कृपा से सोया भाग्य जगा ले,
माया की दलदल से 'दासा' निकल ।

अहंकार

परलोकगमन से पूर्व जब धर्मराज युधिष्ठिर राज्य का भार परीक्षित को सौंपकर अपने भाइयों तथा द्रौपदी के साथ यात्रा करते हुये महागिरि मेरु पर पहुँचे, तो चलते-चलते एकाएक द्रौपदी लड़खड़ा कर गिर पड़ी। उसे गिरा देखकर महाबली भीमसेन ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—राजकुमारी द्रौपदी गिर गई है।

धर्मराज युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—इसे एक दिन गिरना ही था, क्योंकि इसे अपनी सुन्दरता पर बड़ा अभिमान था। आज यह अपने अहंकार का फल भोग रही है।

ऐसा कहकर उसकी ओर देखे बिना ही युधिष्ठिर आगे बढ़ गये। थोड़ी देर बाद सहदेव धरती पर गिर पड़े। उन्हें गिरा देखकर भीमसेन ने युधिष्ठिर से पूछा—जो सदैव हम लोगों की सेवा किया करता था, वह माद्रीनन्दन सहदेव किस दोष के कारण गिरा है?

युधिष्ठिर ने कहा—सहदेव को अपनी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता का बड़ा अहंकार था। वह किसी को भी अपने जैसा विद्वान और बुद्धिमान् नहीं समझता था। इसी दोष के कारण इसका पतन हुआ है।

ऐसा कहकर युधिष्ठिर पुनः आगे बढ़ गये। अभी वे कुछ ही पग चले थे कि नकुल भी गिर पड़े। भीम के पूछने पर युधिष्ठिर

ने कहा—इसे अपने रूप का बहुत अहंकार था। यह समझता था कि रूप में मेरे समान दूसरा कोई नहीं है, एकमात्र मैं ही सबसे अधिक रूपवान् हूँ। इसीलिये इसका पतन हुआ है।

कुछ दूर जाने पर अर्जुन भी गिर पड़े। भीम के पूछने पर युधिष्ठिर ने कहा—इसे अपनी धनुर्विद्या का बड़ा अहंकार था। यह अहंकारवश प्रायः कहा करता था कि मैं एक ही दिन में शत्रुओं का नाश कर सकता हूँ। इसी दोष के कारण यह धराशायी हुआ है।

अन्ततः भीमसेन भी गिर पड़े। जब उन्होंने अपने पतन का कारण पूछा, तो युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—तुम्हें अपने शारीरिक बल का बड़ा अहंकार था और तुम दूसरों को कुछ भी न समझ कर सदैव अपने बल की डींग हांका करते थे, इसीलिये तुम्हारा पतन हुआ है।

अभिप्राय यह कि जो अहंकार करता है, उसका एक न एक दिन अवश्य पतन होता है, वह एक दिन अवश्य गिरता है। सन्तों का कथन भी है:—

शेअर

हरकि बेहूदा गर्दन अफ़राज़द ।
खेश्तन रा बगर्दन अन्दाज़द ॥

शेख़ सादी साहिब

अर्थात् जो कोई व्यर्थ ही अपनी गर्दन ऊंची करता है, वह मुँह के बल गिरता है।

संसार में आम तौर पर यह कहावत प्रसिद्ध भी है कि घमंडी का सिर नीचा। इसलिये मनुष्य को भूलकर भी अहंकार नहीं

करना चाहिये। यदि वह अहंकार करेगा, तो उसे एक दिन अवश्य नीचे गिरना होगा। इस विषय में राजा नहुष की कथा अत्यन्त शिक्षाप्रद है।

एक बार वन में घूमते हुये महाबली भीमसेन को एक बहुत बड़े सर्प ने अपने शिकंजे में जकड़ लिया। भीमसेन ने उससे छुटकारा पाने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु उस सर्प के आगे उसकी एक न चली। कुछ देर के बाद भीम को ढूँढते हुये जब धर्मराज युधिष्ठिर वहां पहुँचे, तो यह कौतुक देखकर हैरान रह गये। उन्होंने भीम के प्राणों की रक्षा हेतु सर्प से विनय की। सर्प ने कहा—पहले आप मेरे कुछ प्रश्नों का उत्तर दें, तब मैं भीम को छोड़ूँगा।

युधिष्ठिर ने कहा—पूछो।

सर्प ने जो प्रश्न युधिष्ठिर से पूछे, वे सभी ज्ञान से पूर्ण थे। युधिष्ठिर ने उन सबका यथोचित उत्तर दिया। तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने भी सर्प से कुछ धर्म सम्बन्धी प्रश्न किये, जिनका सर्प ने अत्यन्त सम्यक उत्तर दिया। तब युधिष्ठिर ने सर्प से पूछा—इतने विद्वान होने पर भी आपको सर्प की योनि किस कारण प्राप्त हुई?

सर्प ने उत्तर दिया—युधिष्ठिर! मैं पूर्वजन्म में तुम्हारा पूर्वज था और राजा नहुष के नाम से विख्यात था। यज्ञ, तप तथा अन्य शुभकर्म करने से मुझे तीनों लोकों का ऐश्वर्य प्राप्त हो गया, जिससे मेरा अहंकार बहुत बढ़ गया। अहंकार के वशीभूत होकर मैं किसी को कुछ न समझता था, यहां तक कि मैं ऋषियों-मुनियों से अपनी पालकी उठवाने लगा। ऋषि-

मुनि यद्यपि सहनशीलता की मूर्ति होते हैं, तथापि सहनशीलता की भी एक सीमा होती है।

एक बार जब मुनिवर अगस्त्य जी मेरी पालकी उठाये हुये थे, तो अहंकार के वश होकर मैंने उन्हें लात मारी। तब अगस्त्य मुनि जी ने मुझे शाप दिया—अहंकार के वश होकर तू हर समय सर्प की तरह फुँकारता रहता है, अतः सर्प होकर नीचे गिर।

उनके इतना कहते ही मेरे सारे राजचिन्ह लुप्त हो गये। उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो मैं सर्प के रूप में मुँह नीचे किये गिर रहा हूँ। यह देखकर मेरा सारा अहंकार चूर हो गया। मैंने मुनि अगस्त्य जी से अपने कुकृत्य के लिये क्षमा मांगी और शाप से मुक्ति की याचना की। मेरे क्षमा-याचना करने पर दयालु मुनि जी बोले—युधिष्ठिर से वार्त्तालाप होने पर तुम इस शाप से मुक्त हो जाओगे।

यह कहकर उसने भीम को छोड़ दिया और स्वयं सर्पयोनि से मुक्त होकर देवलोक को चला गया।

योगवासिष्ठ में अहंकार के नौ प्रकार बतलाये गए हैं:—

१. शारीरिक—बलशाली होने का
२. बुद्धिगत—बुद्धिमान् होने का
३. नीतिगत—नीतिवान् एवं सदाचारी होने का
४. योगजनित—ऋद्धि-सिद्धि के स्वामी होने का
५. आध्यात्मिक—धर्मात्मा होने का
६. कुलाभिमान—उच्च कुल में जन्म लेने का
७. सम्पदाभिमान—धन-सम्पदा होने का
८. स्वरूपाभिमान—सुन्दर रूप होने का

६. राजमद—राज्य-वैभव होने का

अहंकार चाहे किसी भी प्रकार का हो, एक दिन मनुष्य को अवश्य ही पतन के गर्त में गिराता है। इसलिये इससे बचते हुये हृदय में सदैव नम्रता और दीनता धारण करो और सन्तों के ये वचन सदैव स्मरण रखोः—

॥ दोहा ॥

अभिमानी चढ़ि कर गिरे, गये बासना माहिं ।
चौरासी भरमत भये, कबहीं निकसै नाहिं ॥
चरनदास यों कहत है, सुनियो सन्त सुजान ।
मुक्ति मूल है दीनता, नरक मूल अभिमान ॥

सन्त चरणदास जी

नाम महिमा

स्वरः—दिल लूटने वाले....॥

टेकः—प्रभु–नाम को प्राणी तू हृदय बसा,
सच्चा यह तेरा सहारा है ।

१–कोई ग़म–चिंता न सताती उसे,
हिरदै जिस नाम बसाया है।
प्रभु–नाम ने लाखों जीवों को,
भवसागर पार कराया है ।
सच्चे सुख का भण्डार है यह,
सन्तों ने यही उचारा है ॥

२–दुनिया में कोई नहीं अपना,
सब मतलब का ही नाता है।
जब निकल जाए मतलब उनका,
फिर कोई न किसी को चाहता है।
सुख–दुःख में सदा जो साथ रहे,
वह प्रभु का नाम प्यारा है॥

३–इस मानुष जन्म को पाने का,
है मकसद केवल प्राणी यही।
तू स्वाँस स्वाँस में नाम सुमिर,
कर प्रभु की सदा भजन बन्दगी।
जिसने भी नाम से चित्त जोड़ा,
उसने ही जन्म संवारा है॥

४–प्रभु–नाम की दौलत को 'दासा',
पल-पल में इकट्ठा करना है।
दुनिया से हटा करके दिल को,
प्रभु-नाम ही हरदम जपना है।
प्रभु-नाम ही केवल धन अपना,
बाकी सब झूठ पसारा है॥

श्री अमर वाणी
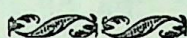
नोट—श्री श्री १०८ श्री सद्गुरुदेव महाराज जी श्री तृतीय पादशाही जी की पुण्यस्मृति में उन्हीं के परम पावन श्री प्रवचन यहां दिए जा रहे हैं।

दृढ़ निश्चय तथा शूरवीरता

सारी दुनिया पर काल और माया का शासन है और आम तौर पर जीव काल और माया की दासता की ज़ंजीर अपने गले में डाले हुए हैं अर्थात उनकी दासता को उन्होंने खुशी-खुशी स्वीकार कर रखा है। बिरले गुरुमुख पुरुष ही ऐसे होते हैं, जो काल एवं माया की तथा उनके एजन्टों अर्थात् मन और मन के विकारों की दासता से मुक्त होने की अभिलाषा रखते और इसका यत्न करने में लगे रहते हैं। ऐसे गुरुमुख पुरुष काल का भय अपने दिल में नहीं रखते, क्योंकि उनका काम तो इन शत्रुओं से लड़कर इनपर विजय पाना और इनके पंजे से स्वयं को मुक्त कराना है। जो काल का भय अपने दिल में रखते हैं, वे इसपर विजय क्या पा सकेंगे? उन्होंने तो स्वयं ही काल और माया से भयभीत होकर उनके आगे अपने हथियार डाल दिए हैं।

आम संसारियों की यही दशा है कि उन्होंने काल और माया के आगे हथियार फेंक दिए हैं और घुटने टेककर उनकी अधीनता

स्वीकार कर ली है। किन्तु गुरुमुखों की ऐसी दशा कभी नहीं होती और न ही कभी होनी चाहिए। जिस गुरुमुख के हृदय में मालिक का और सद्गुरु का विश्वास और भरोसा है, काल भला उसका क्या बिगाड़ सकता है? सत्पुरुषों का कथन है:—

॥ दोहा ॥

सूली ऊपर घर करै, विष का करै अहार ।
ताको काल कहा करै, जो आठ पहर हुसियार ॥

परमसन्त श्री कबीर साहिब

श्री कबीर साहिब का कथन है कि गुरुमुख ने भक्ति के कठिन मार्ग में पग रखा है और वह संसार की स्तुति-निंदा तथा मान-अपमान आदि को सहन करता है। भक्ति-मार्ग में मन और माया के साथ जो लड़ना होता है, वह मानो सूली पर घर करना है और जो संसार की भली-बुरी सहन करना है, यह मानो विष का आहार करना है। जो गुरुमुख इस प्रकार भक्ति-मार्ग पर आठों पहर सावधान और सतर्क होकर चलते हैं, उनका भला काल क्या बिगाड़ सकता है?

गुरुमुख का काम तो मन, माया और काल को जीतना है। इन से भयभीत होना और इनकी अधीनता में रहना गुरुमुख का काम नहीं। सब संसार तो आमतौर पर काल से भयभीत है, क्योंकि वह इन शत्रुओं के वश में आया हुआ है। आम संसार को तो निस्सन्देह काल और माया ठग सकते हैं, सब पर उनका दावँ चल सकता है, परन्तु गुरुमुखों पर उनका वश कदापि नहीं चलता, जैसा कि सन्तों का कथन है:—

॥ दोहा ॥

ठगने को दोऊ चले, माया काल कराल ।
गुरुमुख प्रेमी भक्त पर, चली न एको चाल ॥

अर्थात् माया और काल सारे संसार को ठगने के लिये चले थे; सबको तो उन्होंने अपने अधीन कर लिया, परन्तु मालिक के सच्चे भक्तों, प्रेमियों और गुरुमुखों पर उनकी एक भी चाल न चल सकी।

कारण इसका यह है कि भगवान् के सच्चे भक्त और गुरुमुख पुरुष अपने दिल में काल और माया के सामानों की इच्छा ही नहीं रखते। न वे उनकी चाह रखते हैं और न ही संसार के मुहताज बनते हैं। संसार में सब रचना काल और माया की है। जो इस रचना और रचना के पदार्थों का लोभ करते हैं, वही उनके अधीन होते हैं और उन्हीं के गले में काल का फंदा भी पड़ता है। गुरुमुख पुरुष न इस झूठे लोभ में फंसते हैं और न ही उनके गुलाम बनते हैं।

इसकी अपेक्षा गुरुमुखों की वृत्ति असत् और नाशवान् पदार्थों से हट कर तथा अन्तर्मुख होकर प्रभु के नाम में लगी रहती है। इस प्रकार वे काल और माया की सीमा से बाहर निकल जाते हैं, वे उनकी सीमा से ऊपर उठ जाते हैं। उनके हृदय का सम्बन्ध परमात्मा से तथा सद्‌गुरु से जुड़ जाता है। और यह ऐसा स्थान है, जहां काल की पहुँच हो ही नहीं सकती। सत्पुरुषों का कथन हैः—

सो कत डरै जि खसमु सम्हारै ॥
डरि डरि पचे मनमुख वेचारे ॥१॥ रहाउ ॥

सिर ऊपरि मात पिता गुरदेव ॥
सफल मूरति जाकी निरमल सेव ॥
एकु निरंजनु जा की रासि ॥
मिलि साध संगति होवत परगास ॥१॥
जीअन का दाता पूरन सब ठाइ ॥
कोटि कलेस मिटहि हरि नाइ ॥
जनम मरन सगला दुखु नासै ॥
गुरमुखि जाकै मनि तनि बासै ॥२॥
जिसनो आपि लए लड़ि लाइ ॥
दरगह मिलै तिसै ही जाइ ॥
सेई भगत जि साचे भाणे ॥
जम काल ते भए निकाणे ॥३॥
साचा साहिबु सचु दरबारु ॥
कीमति कउणु कहै बीचारु ॥
घटि घटि अँतरि सगल अधारु ॥
नानकु जाचै संत रेणारु ॥४॥

गुरुबाणी, धनासरी म० ५

भावार्थः—जो गुरुमुख अपने मालिक की याद और संभाल करता है, वह किसी से क्यों भयभीत होगा ? मनमुख जीव ही काल और माया के भय से भयभीत होकर सदा परेशान होते रहते हैं। गुरुमुख के सिर पर तो गुरुदेव की छत्रच्छाया है, जो माता-पिता के समान उसकी रक्षा करने वाले हैं। गुरुदेव का दर्शन सब मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला है तथा गुरुदेव की सेवा मन को पवित्र एवं निर्मल करने वाली है। गुरुमुख की

पूंजी केवल मालिक का सच्चा नाम है, जो सन्तों की संगति में ही प्राप्त होता है। मालिक का यह सच्चा नाम सब जीवों को जीवन-दान देने वाला है और सब जगह भरपूर है। इस नाम के प्रताप से करोड़ों दुःखों और क्लेशों का अन्त हो जाता है। जिस गुरुमुख के तन-मन में यह सच्चा नाम बस जाता है, उसके जन्म-मरण का सारा दुःख मिट जाता है। पूर्ण सद्गुरु जिसको अपनी चरण-शरण में ले लेते हैं, परलोक में भी उसके साथ रहते हैं। सच्चे भक्त वही हैं, जो सद्गुरु की आज्ञा-मौज में जीवन व्यतीत करते हुये उनकी प्रसन्नता के पात्र बन जाते हैं। वे फिर यम और काल से निर्भय हो जाते हैं। सच्चे मालिक का दरबार सच्चा है। उसकी महानता का वर्णन कौन कर सकता है ? वह मालिक सबके घट में रमा हुआ है और सबको सहारा देने वाला है। जो गुरुमुख पुरुष सच्चे मालिक और सद्गुरु की ओट ग्रहण कर लेते हैं, वे उस सच्चे सहारे को पाकर सदैव निर्भय रहते हैं। सत्पुरुषों का कथन है कि मैं सन्तों सद्गुरुओं की चरणधूलि का याचक हूँ।

नियमानुसार जिस वस्तु की जिसके दिल में लगन होगी और जिससे दिल जुड़ा होगा, उसी प्रकार का प्रभाव और शक्ति भी दिल में पैदा होगी। मनमुख और गुरुमुख में यही अन्तर है कि मनमुख बाह्य संसार के बाह्य सामानों, माया के पदार्थों तथा संसार के सुख के सामानों से दिल लगाता है। ये वस्तुएं तो उसे निस्सन्देह मिलेंगी, क्योंकि प्रकृति का यह नियम है कि जो मांगोगे वह मिलेगा, परन्तु साथ ही उस वस्तु का जो प्रभाव होगा, वह भी अवश्य मिलेगा। माया के सामानों का प्रभाव दुःख,

अशान्ति, चिंता और काल का भय है। इसीलिए मनमुख जीव काल के भय से परेशान होते रहते हैं।

किन्तु जिस गुरुमुख का दिल सद्गुरु के ध्यान और मालिक की याद में लगा हुआ है, वह भला काल से भयभीत क्यों होने लगा ? उसके लिये तो सत्पुरुषों ने ऊपर की बाणी में स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि जो सद्गुरु की आज्ञा-मौज में रहकर उनकी प्रसन्नता का पात्र बन जाता है, वह यम और काल से सदा निर्भय रहता है। मालिक के नाम और सद्गुरु की भक्ति के प्रताप से गुरुमुख का जन्म-मरण का सब दुःख और भय मिट जाता है। जिसने सद्गुरु की शरण दृढ़ता से ग्रहण कर ली है, सद्गुरु सदैव उसके अंग-संग रहते हैं। वे लोक-परलोक में उसका साथ निभाते हैं, फिर गुरुमुख को काल का भय क्यों हो ?

यदि जीव काल से डरता रहेगा, तो वह कभी भी काल के भय से मुक्त नहीं हो सकेगा। मरते समय यदि यही भय दिल में रह गया, तो जन्म-जन्म तक उससे छुटकारा नहीं मिलेगा। वास्तविकता तो यह है कि सच्चे मालिक और सद्गुरु का भय दिल में न होने से ही जीव को काल का भय सताता है। एक ओर दयाल है और दूसरी ओर काल है। जब दयाल का भय दिल में हो, तो काल का भय अपने आप जाता रहता है। इसके विपरीत यदि दयाल का भय मन में न हो, तो फिर काल का भय ही उस पर प्रबल रहेगा। सत्पुरुषों का कथन है:—

डडा डर उपजे डरु जाई ॥
ता डर महि डरु रहिआ समाई ॥

जउ डर डरै त फिरि डरु लागै ॥
निडरु हूआ डरु उर होइ भागै ॥
गुरुबाणी, बावन अखरी श्री कबीर जी

जिस प्रकार लोहे को लोहा काटता है, उसी प्रकार दयाल पुरुष मालिक और सद्गुरु का भय मन में होने से काल का भय जाता रहता है। दयाल के भय में काल का भय गुम हो जाता है। यदि जीव काल से भयभीत होता रहेगा, तो फिर उसे जन्मों तक यही भय चिपटा रहेगा। इसके विपरीत यदि जीव मालिक के भय को दिल में बसा लेगा, तो फिर काल का भय अपने आप ही भाग जाएगा।

दयाल का भय प्रकाश है और काल का भय अन्धकार है। जिस प्रकार प्रकाश के सम्मुख अन्धकार कदापि नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार दयाल के भय के सम्मुख काल का भय कभी नहीं ठहर सकता। प्रकाश के आते ही जैसे अन्धकार सिर पर पांव रखकर भाग निकलता है, वैसे ही मालिक का नाम दिल में आते ही सब प्रकार के भ्रम-संशय और भय स्वयमेव भाग जाते हैं।

इसलिये न तुम काल के सामानों की आकांक्षा करो, न ही काल का भय तुम्हें सतायेगा। काल और माया तो लोभ और भय दिखलाकर जीवों को अपने अधीन रखना चाहते हैं। जो कोई माया के पदार्थों के लोभ में फंसा, वह मानो काल के वश में हो गया। इसी प्रकार ही आम संसार काल के कब्ज़े में आया हुआ है।

इसके विपरीत गुरुमुखों की बात और है। गुरुमुखों के मन में

न माया का लोभ होता है और न ही काल का भय उन्हें सताता है, क्योंकि यह लोभ ही भय को पैदा करने वाला है। जब बीज ही नहीं होगा, तो फिर फल क्योंकर पैदा होगा ? सन्तों का कथन है:—

॥ दोहा ॥

जब लग चावल धान में, तब लग उपजै आय।
जग छिलके कूँ तजि निकस, मुक्ति रूप ह्वै जाय॥
सन्त सहजोबाई जी

चावल जब तक धान के छिलके में रहता है, तभी तक वह पैदा होता रहता है। यदि किसी प्रकार उसके छिलके को जलाकर, कूटकर अथवा उबाल कर नष्ट कर दिया जाये, तो फिर वह चावल बोने पर कभी नहीं उगता। सन्तों का कथन है कि इसी प्रकार ही जगत् की वासना अथवा कामना धान का छिलका है और जीव चावल है। जब तक जीव के मन में वासनाओं का निवास है, तभी तक वह आवागमन के चक्र में अथवा योनियों में भटकता हुआ दुःख पाता रहता है। किन्तु जब वह जगत् की वासना के छिलके को त्याग देता है, तब वह मुक्तरूप हो जाता है।

जगत् की यह वासना ही जीव के सभी दुःखों और काल के भय का मूल कारण है। यही आवागमन का बीज है। संसार रूपी वृक्ष की जड़ भी यह वासना ही है। जब किसी वस्तु को समाप्त करना होता है, तो उसकी जड़ को काट दिया जाता है। बस! वासना की जड़ को काट दो, फिर तुम्हारे लिये न संसार का दुःख रहेगा और न काल का भय। तुम सांसारिक कामनाओं का अन्त

कर दो, तो फिर अपने आप ही तुम्हारा पीछा चिंता, क्लेश और शोक से छूट जायेगा।

किन्तु वासना का अन्त कामनाओं को पूरा करते रहने से कदापि नहीं हो सकता, अपितु कामनाओं की जड़ काट देने से ही इसका अन्त सम्भव है। कामनाओं को पूरा करने के यत्न में तो ये कामनायें उलटा कई गुना बढ़ती चली जाती हैं, जैसा कि कथन हैः—

॥ दोहा ॥

घुँघची भर जे बोइये, उगे पंसेरी आठ ।
डेरा परिया काल का, निसदिन रोके बाट ॥

श्री कबीर साहिब

श्री कबीर साहिब का कथन है कि कामना का बीज कुछ इस प्रकार का है कि यदि घुँघची भर बोया जाये, तो मन भर पैदा होता है अर्थात् एक नन्ही-मुन्नी कामना के पेट से सैंकड़ों-हज़ारों अन्य कामनाओं का जन्म होता है और फिर यह क्रम बढ़ते-बढ़ते अनन्त हो जाता है। चूँकि कामना ही काल के चक्र का बीज है, इसलिये जिस मन में कामना का बीज बोया जाता रहेगा, वहां सदैव काल का डेरा जमा रहेगा और जीव के छुटकारे या मोक्ष का मार्ग सदैव रुका रहेगा।

इसलिये कामना की जड़ काटने की ओर ही ध्यान दो जिससे कि काल और माया तुम पर अपना दबाव न डाल सकें। कामनाओं का प्रभाव ही दुःख, चिंता और अशान्ति है, इसलिये जिसके मन में कामनाओं का निवास होगा, वह इनसे कैसे बच सकता है?

कामनायें तो शरीर और इन्द्रियों के लिये हैं, आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा तो कामनारहित है। तुम वास्तव में आत्मा हो। तुम शरीर तो नहीं हो, जो कामनाओं में ग्रसित हो। इन शारीरिक एवं ऐन्द्रिक कामनाओं के कारण आत्मा कैद होकर रह जाती है और फिर जन्म-जन्म तक उसके लिए छुटकारे की कोई सूरत नहीं। शरीर और इन्द्रियों के वे सुख किस काम के जो आत्मा को जन्मों-जन्मों तक काल के फंदे में डाल दें। सन्तों का कथन है:—

॥ दोहा ॥

चाह चिंता का रूप है, चाह सकल दुख खान।
जब लग मन में चाह है, मिटै न आवन जान ॥

इसलिये काल और माया के सामानों की कामना ही मन से निकाल दो, जो तुम्हारे सब दुःखों और भय का कारण बन रही है। आत्मा का जो दर्जा है, वह इन असत् कामनाओं से बहुत ऊंचा है। मनुष्य स्वयं ही आत्मा को भूलकर नीचे के दर्जे में जा गिरता है। यदि सांसारिक कामनाओं से मुक्त हो जाए, तो परमार्थ के ऊंचे दर्जे को प्राप्त कर ले।

गुरुमुख का दर्जा संसार में बहुत ऊंचा है, क्योंकि उसके मन में संसार की वासनाओं और कामनाओं का निवास नहीं होता, अपितु गुरुमुख का मन तो अपने इष्टदेव सद्गुरु से मिला रहता है और वह हर समय अपने इष्टदेव की कृपा ही चाहता है। उसका मन सांसारिक भोगों की ओर नहीं दौड़ता। उसकी तो सदैव यही मांग होती है कि:—

॥ दोहा ॥

भुक्ति मुक्ति माँगौं नहीं, भक्ति दान दै मोहि ।
और कोई याचौं नहीं, निसदिन याचौं तोहि ॥
परमसन्त श्री कबीर साहिब

गुरुमुख पुरुष अपने इष्टदेव के चरणों में हर समय क्या प्रार्थना करता है ? यही कि हे प्रभो ! मैं संसार के भोगपदार्थ तथा सुख यहां तक कि मुक्ति भी नहीं मांगता। मुझे तो अपनी भक्ति का ही दान दीजिये। मैं आपका सेवक होकर किसी अन्य के आगे हाथ क्यों फैलाऊँ ? मैं तो रात-दिन आपके द्वार से ही भिक्षा मांगता हूँ और वह भी केवल भक्ति की ही भिक्षा।

यदि संसार के भोगों की इच्छा है, तो जीव मानो काल और माया का भिखारी बनना चाहता है, क्योंकि ये वस्तुयें उनके अधिकार में हैं। उनका भिक्षुक बनेगा, तो उनकी अधीनता और दबाव से भी नहीं बच सकेगा। इसके विपरीत महापुरुषों के दरबार से भक्ति का दान मिलता है। और जो महापुरुषों के द्वार का भिक्षुक बना, वह काल और माया के फंदे से पूरी तरह मुक्त हो गया।

अब तुम स्वयं ही निर्णय करो कि किस का आश्रयी, दास और भिक्षुक बनना स्वीकार करते हो ? सद्गुरु के द्वार के भिक्षुक को तो काल और माया का भय नहीं, जबकि काल और माया के भिक्षुक के सिर पर काल का डंडा सदा विद्यमान है। सन्तों का कथन है:—

॥ शेअर ॥

जां बजानां बिदह वरना अज़ तो बिसतानद अजल ।
ख़ुद ही मुन्सिफ बाश ऐ दिल ईं निको या आं निको ॥
मौलाना रूमी साहिब

अर्थः—अपनी जान अपने इष्टदेव के हवाले कर दे, अन्यथा मौत इसे तुझ से छीन ले जायेगी। तेरी जान तो दोनों ही अवस्थाओं में जायेगी, परन्तु ऐ मन! तू स्वयं ही न्यायकारी बन कर निर्णय कर कि दोनों में से कौन सी स्थिति अच्छी है।

यही बात गीता के उपदेश में भी मिलती है। भक्त अर्जुन कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में प्रविष्ट होते ही अपने सामने की सेना में अपने बन्धु-बान्धवों और बुज़ुर्गों को युद्ध के लिए तैयार देखकर साहस छोड़ बैठा और भय से थर-थर कांपता हुआ धनुष-बाण फेंककर युद्ध न करने की ठान बैठा। तब श्रीकृष्ण जी ने, जो युद्ध में उसके सारथि बने थे और साथ ही उसके इष्टदेव एवं गुरु भी थे, उसे समझाया कि क्षत्रिय का धर्म कर्त्तव्य का पालन करते हुए युद्ध में शूरवीरता दिखाना है न कि कायरता। उन्होंने कहा:—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥

श्रीमद्भगवद्गीता २/३१-३४

हे अर्जुन ! अपने कर्त्तव्य को देखकर तुझे भय नहीं करना चाहिये, क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्त्तव्य नहीं है। हे पार्थ ! अपने आप प्राप्त हुये और खुले हुये स्वर्ग के द्वाररूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रियलोग ही पाते हैं। यदि तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा, तो अपने कर्त्तव्य का पालन न करने के कारण कीर्ति को खोकर पाप का भागी बनेगा और सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति का भी कथन करेंगे तथा माननीय पुरुष के लिए अपकीर्ति तो मृत्यु से भी बढ़कर है।

अभिप्राय यह कि शत्रुओं के साथ लड़-भिड़ कर मरने में कर्त्तव्य का पालन भी होता है और लोक-परलोक भी संवरते हैं। इसके विपरीत युद्ध में पीठ दिखाने से लोग तुझे अपमानित करेंगे और अपमान भरा जीवन भी मृत्यु के समान ही है। मृत्यु तो दोनों ही स्थितियों में हुई, परन्तु एक वीरता की मौत है और दूसरी कायरता की। अब तुझे जो भी मार्ग पसन्द हो, वही अपना।

श्रीकृष्ण जी ने पुनः फ़रमायाः—

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

श्रीमद्भगवद्गीता २/३५-३९

हे अर्जुन ! जिनकी दृष्टि में तू पहले बहुत सम्मानित है, उन्हीं की दृष्टि में तू लघुता को प्राप्त होगा, क्योंकि वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से भागा हुआ मानेंगे । तेरे शत्रु तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुये तुझे बहुत-से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे, उससे अधिक दुःख तुझे और क्या होगा ? युद्ध करने से यदि तू युद्ध में मारा गया, तो स्वर्ग प्राप्त करेगा और यदि जीत गया, तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा । इसलिए हे अर्जुन ! युद्ध के लिए निश्चय करके तू उठ खड़ा हो । जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान समझकर तू युद्ध के लिए तैयार हो जा । इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप का भागी नहीं बनेगा । हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गई और अब तू इसको कर्मयोग के विषय में सुन, जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाएगा ।

और उसके बाद जैसा कि सब जानते हैं कि अर्जुन ने वही किया, जो श्री कृष्ण जी ने कहा और वह सफल एवं विजयी हुआ । मन में भय को स्थान देना और शस्त्र फेंक देना तो

कायरता का चिन्ह है। जीवन तो उन वीरों का है, जो काल और माया से सीना तानकर लड़ते हैं और लड़कर उन प विजय प्राप्त करते हैं। यही गुरुमुखों का धर्म है।

इसलिये कभी भूलकर भी काल का भय मन म्रें न आने दो काल से भयभीत होना तो मानो मौत से पहले मरना है। जिस के मन में मालिक का और सद्गुरु का दृढ़ विश्वास औ भरोसा हो, उसे फिर भय किस बात का? भय तो उसे होत है, जिसके हृदय में श्रद्धा और विश्वास की कमी है। ऐसे अश्रद्धालु पुरुष के लिये ही श्रीकृष्ण जी ने कहा है:—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च　संशयात्मा　विनश्यति　।
नायं लोकोऽस्ति　न परो न　सुखं　संशयात्मनः ।।

श्रीमद्भगवद्गीता ४/४०

अर्थः—विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमा से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्य के लिये यह लोक है, न परलोक है और न ही सुख है।

इसके विपरीतः—

योगसंन्यस्तकर्माणं　ज्ञानसंछिन्नसंशयम्　।
आत्मवन्तं　न कर्माणि निबध्नन्ति　धनंजय ।।

श्रीमद्भगवद्गीता ४/४१

अर्थः—हे धनंजय! जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कम को परमात्मा के अर्पण कर दिया है और जिसने विवेक द्वा

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

श्रीमद्भगवद्गीता २/३५-३९

हे अर्जुन ! जिनकी दृष्टि में तू पहले बहुत सम्मानित है, उन्हीं की दृष्टि में तू लघुता को प्राप्त होगा, क्योंकि वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से भागा हुआ मानेंगे । तेरे शत्रु तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुये तुझे बहुत-से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे, उससे अधिक दुःख तुझे और क्या होगा ? युद्ध करने से यदि तू युद्ध में मारा गया, तो स्वर्ग प्राप्त करेगा और यदि जीत गया, तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा । इसलिए हे अर्जुन ! युद्ध के लिए निश्चय करके तू उठ खड़ा हो । जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान समझकर तू युद्ध के लिए तैयार हो जा । इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप का भागी नहीं बनेगा । हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गई और अब तू इसको कर्मयोग के विषय में सुन, जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाएगा ।

और उसके बाद जैसा कि सब जानते हैं कि अर्जुन ने वही किया, जो श्री कृष्ण जी ने कहा और वह सफल एवं विजयी हुआ । मन में भय को स्थान देना और शस्त्र फेंक देना तो

कायरता का चिन्ह है। जीवन तो उन वीरों का है, जो काल और माया से सीना तानकर लड़ते हैं और लड़कर उन पर विजय प्राप्त करते हैं। यही गुरुमुखों का धर्म है।

इसलिये कभी भूलकर भी काल का भय मन में न आने दो। काल से भयभीत होना तो मानो मौत से पहले मरना है। जिस के मन में मालिक का और सद्गुरु का दृढ़ विश्वास और भरोसा हो, उसे फिर भय किस बात का? भय तो उसे होता है, जिसके हृदय में श्रद्धा और विश्वास की कमी है। ऐसे अश्रद्धालु पुरुष के लिये ही श्रीकृष्ण जी ने कहा है:—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

श्रीमद्भगवद्गीता ४/४०

अर्थः—विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थ से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्य के लिये न यह लोक है, न परलोक है और न ही सुख है।

इसके विपरीतः—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥

श्रीमद्भगवद्गीता ४/४१

अर्थः—हे धनंजय! जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों को परमात्मा के अर्पण कर दिया है और जिसने विवेक द्वारा

समस्त संशयों का नाश कर दिया है, ऐसे वश में किये हुये अन्तःकरण वाले मनुष्य को कर्म नहीं बाँधते।

इसलिये गुरुमुख को चाहिये कि अपने इष्टदेव सद्गुरु में अचल विश्वास और सच्ची श्रद्धाभावना को हृदय में दृढ़ करे और सदैव काल के भय से मुक्त रहे। श्रद्धा–विश्वास की कमी ही दुर्बलता और कायरता है। ऐसी अवस्था को कभी निकट नहीं फटकने देना चाहिए। सदैव सद्गुरु से दिल की तार जुड़ी रहे, फिर संसार की कोई भी शक्ति तुम्हें भयभीत नहीं कर सकती।

APRIL 1985
R. No. 13072/57

Regd. No. MP/GUNA/5/
Licence No. 1
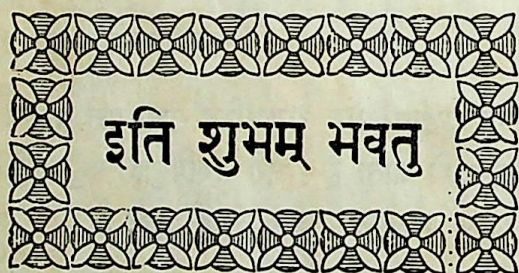
भक्ति, प्रेम, परमार्थ, वैराग्य तथा शान्ति
का सन्देश वाहक

मासिक आनन्द-सन्देश

पढ़िये और अपनी आत्मिक प्यास बुझाईये

(१) यह मासिक पत्र श्री आनन्दपुर में तीन भाषाओं हिन्दी, उर्दू तथा सिन्धी में प्रकाशित होता है। इस के अतिरिक्त 'SPIRITUAL BLISS' नाम से अंग्रेजी में भी मासिक पत्र छपता है।

(२) आनन्द सन्देश, पाठकों को प्रत्येक अंग्रेजी महीने की पहली तारीख को भेज दिया जाता है। २० तारीख तक अंक न मिलने पर अपने डाकखाने से पता करें, तत्पश्चात कार्यालय को सूचित करें।

(३) आर्डर देते समय जिस भाषा में अंक की आवश्यकता हो स्पष्ट लिखें।

(४) पत्र-व्यवहार करते समय अपने चिट नम्बर का हवाला देना आवश्यक है।

(५) पता-परिवर्तन की सूचना १५ तारीख तक कार्यालय को अवश्य भेज दें, जिससे कि समय पर कार्यवाही की जा सके।

पताः—आनन्द सन्देश कार्यालय
पो० श्री आनन्दपुर, जिला गुना (म० प्र०)
पिन ४७३-३३८